1961

॥ ओ३म् तत्सत् ॥

Sahaj Marga

सहज मार्ग

वर्ष ५ — अंक ४

Year 5 — Number 4

श्री रामचन्द्र मिशन, शाहजहाँपुर (उ० प्र०)

(भारतवर्ष)

Shri Ram Chandra Mission

Shahjahanpur. U. P, (India)

सम्पादक मण्डल

काशीराम अग्रवाल, शाहजहांपुर

सूर्यप्रसाद श्रीवास्तव, लखीमपुर-खीरी (उ० प्र०)

वार्षिक मूल्य ३) — एक अंक का १)

प्रकाशक- श्री रामचन्द्र मिशन पब्लिकेशन डिपार्टमेंट

शाहजहाँपुर उत्तर प्रदेश (भारतवर्ष)

विषय सूची

	विषय	लेखक	पृष्ठ सं०
१	प्रार्थना		१
२	सम्पादक की बात		२
३	ब्रह्म ज्ञान	समर्थगुरु महात्मा रामचन्द्र जी फतेहगढ़	३
४	हृदय का विस्तार	श्री रामचन्द्र जी अध्यक्ष	६
५	श्रद्धा	कु० छाया सक्सेना एम ए०	६
६	देह और आत्मा	कु० पुष्पा रानी सक्सेना	१७
७	शान्ति	श्री भैरों प्रसाद श्रीवास्तव	२१
८	लगन	कु० केसर एम० ए० एल० टी०	२५
९	समय की पुकार	प्रकाशक	२८
10	State of Realisation	Shri Ram Chandra Ji President	33
11	Astral Body	„ Dr. K. C. Varadachari M. A. Ph. D.	40
12	A Religion of Silence	„ S. C. Srivastava	44
13	The Special Personality and his work	„ Raghavendra Rao	51
14	Mind and Meditation	„ Ishwar Sahai	55
15	Culture	„ Raghunandon Prasad Indra	60

(सर्वाधिकार सुरक्षित)

सहज मार्ग

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत ।

(उठो ! जागो !! गुरुजनों को प्राप्त कर ज्ञान-लाभ करो!!!)

वर्ष ५ Years 5] शाकाब्द १८८३, सं० २०१८ विक्रमी Years 1961 [अङ्क ४ No. 4

* प्रार्थना *

हे नाथ, तू ही मनुष्य-जीवन का ध्येय है ।
हमारी इच्छाऐं हमारी उन्नति में बाधक हैं ।
तू ही हमारा एक मात्र स्वामी और इष्ट है ।
बिना तेरी सहायता तेरी प्राप्ति असम्भव है ।

[श्री रामचन्द्र मिशन की दैनिक प्रार्थना]

सम्पादक की बात :—

प्रस्तुत अंक हमारी पत्रिका के प्रकाशन के पांचवे वर्ष का अंतिम अंक है। पत्रिका की उत्तरोत्तर प्रगति के लिए हमें अपने सहृदय पाठकों और ग्राहकों की सद्भावना और सहायता की सदैव अपेक्षा है।

इस वर्ष कुछ अनिवार्य कारणों से हमारे मिशन के अध्यक्ष श्रद्धेय 'बाबू जी' को अपना दक्षिण भारत का शीतकालीन दौरा स्थगित करना पड़ा। यद्यपि इस से हमारे दक्षिण भारत के भाई बहनों को दुःख होना स्वाभाविक है, किन्तु यदि लम्बी यात्रा से बचने का कुछ अच्छा प्रभाव श्री बाबू जी के स्वास्थ्य के हित में हो, तो यह सभी के लिए बड़ी प्रसन्नता की बात है और यह सब का वास्तविक श्रेय है।

हमारा वार्षिक बसन्तोत्सव अगली ६ फरवरी सन १९६२ ई० को होगा। बसन्तपञ्चमी हमारी सहज मार्ग साधना पद्धति के आदि गुरू फतेहगढ़ (उत्तर प्रदेश) निवासी समर्थ गुरू महात्मा रामचन्द्र जी की पावन जन्मतिथि है। अतः यही हमारे मिशन का सब से महत्वपूर्ण पर्व है। इस अवसर पर पिछले वर्षों की ही भाँति ८ फरवरी को प्रातःकाल और सांय-काल ६॥ बजे से ७॥ बजे तक सामूहिक ध्यान होगा। इसी प्रकार ९ फरवरी को इसी समय और १०फरवरी को प्रातःकाल इसी समय सामूहिक ध्यान होगा। अधिकांश भाई बहन इस अवसर पर शाहजहाँपुर पहुँच जाते हैं और सभी कार्यक्रमों में सम्मिलित होते हैं। जो लोग इस अवसर पर शाहजहाँपुर न पहुंच सकें वह सामूहिक ध्यान के समय घर पर या जहां कहीं हों, ध्यान में अवश्य बैठें, और अन्य समय भी रुजू (उन्मुख) रहें।

हमारी पत्रिका के अगले अंक में इसी बसन्तोत्सव के अवसर पर प्राप्त लेखों और कविताओं का संग्रह होगा। पत्रिका की उत्तरोत्तर प्रगति के लिए सुझावों का हार्दिक स्वागत है।

अगले वर्ष के लिए पत्रिका का चन्दा भेजकर अनुग्रहीत करें, और अधिक से अधिक ग्राहक बनाने का प्रयत्न करें। एतदर्थ हम आप के सदैव आभारी रहेंगे।

सम्पादक

—❀—

(समर्थगुरू महात्मा रामचन्द्र जी, फतेहगढ़)

(क्रमागत)

अज्ञान | वेदान्त काण्ड - वेद के अन्तिम भाग पर विचार | ज्ञान

जो ज्ञान का तात्पर्य समझना चाहे वही अज्ञानी है। यदि उसको यही समझ न होती तो अज्ञानी क्यों कहलाता, तब तो हम उसको मूढ़ कहते। अज्ञानी का अर्थ 'समझ से खाली' नहीं है, बल्कि जो ज्ञान के तात्पर्य से खाली है, वह अज्ञानी है, और वही ज्ञान का अधिकारी भी होगा। जिस प्रकार भूखे को रोटी का, प्यासे को पानी का, और रोगी को दवा का अधिकार है, वैसे ही अज्ञानी को भी ज्ञान का हक़ है, और उसी के लिए ज्ञान है। भूखे के पास रोटी नहीं होती, किन्तु रोटी की समझ का अभाव नहीं होता। इसी प्रकार अज्ञानी में ज्ञान तत्व तो मौजूद है लेकिन उस में ज्ञान नहीं है।

ज्ञान कहते हैं चिन्तन, सोच-विचार, शुद्ध बिवेक को, इसके अतिरिक्त ज्ञान और कुछ नहीं है। वस्तुओं का अन्तर जानना, उन के बीच विभेदात्मक रेखा खींचना, विभेदात्मक मद (बात-Point) कायम करना— यही ज्ञान है, और यही दिल की विशिष्टता है। भेद करने की योग्यता (तमीज़) का नाम विवेक और विचार है। जब दिल दो हालतों के बीच कायम होता है, तब उनमें विचार फुरता है (स्पन्दित होता है)। विचार का स्थान मिलौनी, मिश्रित और विभेदात्मक दशा के घेरे में ही है, और दिल वहीं उसमें और उसपर बैठ कर सोचता और विचारता है।

ज्ञानी का उद्देश्य केवल चिन्तन, विचार और विभेदी करण ही नहीं है, बल्कि और कुछ भी है । हर काम का कोई न कोई परिणाम अवश्य ही होना चाहिए— बिना परिणाम का कोई काम नहीं होता । यदि विचार और चिन्तन करने वाला केवल बातों ही बातों के चक्कर में पड़ा रहे, और उस के परिणाम से लाभ न उठाये, तो वह एक अज्ञानी है, यद्यपि अज्ञानियों के बीच उस का एक दर्जा बड़ा अवश्य है । किन्तु अभी तक वह ज्ञान के निकट होता हुआ भी ज्ञान से रिक्त है । ऐसे ज्ञान को हम वाचिक ज्ञान अर्थात ज़ुबानी जमाख़र्च कहते हैं । पुस्तकें पढ़ कर, भाषण सुन कर, दूसरों के मत उधार ले कर उन के प्रमाण पत्र और हवाला (संदर्भ- Reference) तक ही अपने आप को सीमित रखता है उसे तोते की रटन की भाँति दुहराता रहता है, और उन्हें अपना नहीं बनाता । ऐसे व्यक्ति के ज्ञान को हम वाचिक अर्थात ज़ुबानी ज्ञान कहते हैं । किन्तु जो व्यक्ति ज्ञान का तात्पर्य समझ कर उसे अपना बना कर, और उसे अनुभव करके उस पर कुछ देर के लिए स्थिर भी होता है, और ज्ञान का व्यावहारिक जीवन व्यतीत करता है, उसके ज्ञान को हम यथार्थ या सच्चा ज्ञान कहते हैं । आदेश, मेअराजी और अष्टपदी ज्ञान न है, और न हो सकता है । ज्ञानी अधर में है, कभी इधर और कभी उधर । अधर में रहने वाले को चैन कभी नहीं । इस से तो कर्म करने वाला मूढ़ और ज्ञान की वास्तविकता से अपरिचित एक प्रकार से आपेक्षिक दृष्टि से अच्छे कहे जा सकते हैं ।

लोक, परलोक और उसकी तमाम बातें और घटनाएँ आश्चर्य में डालने वाले सामान हैं । संसार आश्चर्य का स्थान है, और साथ ही नसीहत ग्रहण करने का भी । सतसग का आनन्द लाभ और उद्देश्य यही है कि हर चीज़ का उस की जगह पर महत्व दिखाकर फिर समत्व का पक्ष दृष्टि में ला कर विशालहृदयता उत्पन्न की जावे, और उद्देश्य तथा तात्पर्य की ओर ले जाया जाये । इस समस्त कथन

का तात्पर्य यह है कि ज्ञानी होना उद्देश्यप्राप्ति का चरम विन्दु नहीं है । ज्ञान केवल सुख और आनन्द का चरम विन्दु है । अब यहां प्रश्न यह उठता है कि यदि ज्ञान उद्देश्य-प्राप्ति का चरम विन्दु नहीं है, किन्तु केवल सुख और आनन्द का चरम विन्दु है, तो क्या आदर्श या मेअराज 'मुक्ति' और 'निजात' है । यदि ज्ञान से सुख प्राप्त होता है, तो वह ज्ञान का फल हुआ, और फिर ज्ञान की हैसियत कर्म की हो गई । शास्त्रों का कथन है कि कर्म का शुभाशुभ फल अवश्य प्राप्त होता है, और यदि ज्ञान का परिणाम सुख हुआ, तो फिर परिणामी होने के कारण ज्ञान भी कर्म की ही भाँति एक प्रकार की मज़दूरी हो गई; और 'कर्म' से अधिक उसका महत्व नहीं रहा । लेकिन 'कर्म' को अन्धकार बताया गया है, और ज्ञान की महिमा का गीत गाया गया है । इस का उत्तर यही है कि एक प्रकार से कर्म और ज्ञान दोनों ही वास्तव में एक तरह की क्रिया ही हैं । कर्म शारीरिक अर्थात् जिस्मानी क्रिया है, ज्ञान दिली अर्थात मानसिक क्रिया है । कर्म का अर्थ है करना और ज्ञान का अर्थ है जानना । संस्कृत भाषा में ज्ञान शब्द का शुद्ध उच्चारण ज्ञान (*Jnan*) है, जोज्ञ (*Jn*) धातु से निकला है । हमारी । हमारी साधारण बोल चाल का शब्द 'जानना' भी उसी धातु से निकला है ।

दुसरी बात यह है कि सुख भले ही कर्म या ज्ञान का फल अथवा नतीजा सही, किन्तु इस में कुछ ग़लत फ़हमी और ग़लती भी है ! दिल का भेद न समझने के कारण ऐसा समझ में आ रहा है । सुख अपने आप में वास्तविक अस्तित्व है, और दुःख आदि भ्रम मात्र है । बहुतों ने इस ज्ञान ही को आदर्श मान लिया है, और चुप हो रहे, और बहुतों ने मुक्ति को ।

अतः अब ज्ञान और मुक्ति का अन्तर मालूम करना चाहिए ।

(क्रमशः)

हृदय का विस्तार

(श्री रामचन्द्र जी, अध्यक्ष श्री रामचन्द्र मिशन)

'हृदय' एक ऐसी चीज़ है जैसे किसी तालाब में कोई चीज़ दबी पड़ी हो, जिस का पता न हो, किन्तु हो ज़रूर ! मांस का लोथड़ा वास्तव में आध्यात्मिक दृष्टि से 'हृदय' नहीं कहा जा सकता । हाँ, यह तालाब ज़रूर है, जिस में दिल गुम है, इसकी खोज उसी समय होती है, जब उस गुम खोई हुई चीज़ में बढ़ाव प्रारम्भ हो जाता है । यह चीज़ उस माँस के लोथड़े की सीमा और बन्धन से आज़ाद है, किन्तु ठिकाना उसी में है । रूहानी मञ्ज़िल में वास्तव में यही बीज है जो अन्ततोगत्वा पेड़ बना है; और उसी के फल से तृप्ति होती है । उसकी शाखें हर दिशा में फैल जाती हैं, यहाँ तक कि प्रत्येक चक्र को ढक लेती हैं, और अपना असर उसमें क़ायम कर देती हैं । यह वह चीज़ है कि यदि यह कहा जाये कि प्रकृति ने उसे अपने आप बनाया है, तो ठीक होगा । यह वह चीज़ है, जो प्रकृति के गर्भ में पली है । इस के शुद्ध रूप में वह शक्ति है, जिस को हर शक्ति का आधार कह सकते हैं । यह वह दाना है, कि जब अस्तित्व की खेती जल जाती है तो यह उगता है । इसकी प्रशंसा कहां तक की जावे ! यह चीज़ बढ़ते बढ़ते समस्त ब्रह्माण्ड *(Cosmos)* में पहुँच जाती है, और उस में ऐसी लय हो जाती है, कि अपने अस्तित्व को पूर्ण रूपेण नष्ट किये बिना ही यहाँ तक बढ़ती है कि अन्तिम सीमा पर पहुँचा देती है । यह वह सीढ़ी है कि जिस पर हम चढ़ते चले जाते हैं, और अन्त में जहां तक अभ्यासी की पहुंच सम्भव है, पहुँच जाते हैं ।

मैं ने पुस्तकों में हृदय-क्षेत्र *(Heart Region)* और फिर चित्त-क्षेत्र (*Mind Region*) और उस के बाद केन्द्रीय-क्षेत्र (*Central Region*) लिखा है । केन्द्रीय-क्षेत्र का पूरा नक़्शा हृदय में उतरा हुआ है, यहाँ तक कि मुझ को तीन दिन सोचने के बाद यह पता चला है कि जितने दायरे केन्द्रीय-क्षेत्र में हैं, वही दायरे इस बीजमें थोड़ा खुलने पर महसूस होते हैं । और यहीं पर की तालीम से केन्द्रीय-क्षेत्र के बहुत से दायरे पार हो सकते हैं, और अन्त में हम उस अन्तिम किरण तक पहुँच सकते हैं । दायरे केवल सात हैं । अब मैं इस प्रकार की तालीम अगर देना प्रारम्भ करूं, तो अफ़सोस है कि लोग मुझ से भागने लगेंगे, और महीनों तवज्जह की ज़रूरत न होगी. यानी अगर मैं यह काम प्रारम्भ से ही ले लूँ । बहुत ज्यादा तरक्की करने के बाद इस तालीम को लिया जा सकता है । मैंने केवल एक अपने गुरू भाई को, जिन्होंने काफ़ी यात्रा पूरी करली है, इस प्रकार की तालीम देना शुरू किया है ।

यह वाक्य मैं अधिक लिखा गया । मतलब पर आता हूं । यह दिल की बढ़वार, जैसा कि ऊपर लिखा है कि अखिल ब्रह्माण्ड (Cosmos) में पहुँच कर लय हो जाती है । इसका अर्थ यह है कि वह अपने ज़र्रात (कणों) को खो बैठती है । किन्तु दायरे (Rings) शेष रह जाते हैं । यदि उन दायरों को कोई व्यक्ति तोड़ कर प्रसार (Expanse) में ले आवे तो असीम शक्ति अभ्यासी में आ जाती हैं । किन्तु यह rings हर एक की तोड़ी नहीं जाती हैं, बल्कि उसकी तोड़ी जाती हैं जिससे प्रकृति अपना ख़ास काम लेना चाहती हैं, और यह बिना उसकी इच्छा के नहीं टूटतीं । यहां पर से उस से सूक्ष्म शक्ति शुरू हो जाती है । और वह ring जो इस जगह पर रगड़ खा कर शक्ति पैदा करती हैं, वह चीज़ और आगे जाती है । और

इसी प्रकार वह गई हुई चीज़ जब उस स्थान से रगड़ खाती है, तो उस से आगे जाती है, यहाँ तक कि अन्त में कुछ ऐसा कहने मात्र को मूल तत्व (Essence) रह जाता है, जिसको Essence कहना उस चीज़ को कई गुना भारी बना देगा। इस अन्तिम Essence का रुझान जिस समय केन्द्रीय-क्षेत्र (Central Region) में होता है, और वह उसके हुक्म से वहां पहुँच भी जाता है, तो वह जिस को कि मैं ने मूल तत्व (Essence) कहा है, अपना अस्तित्व भी खो देता है; और थोड़ा आगे बढ़ने पर और तैराकी करने से क्या हो जाता है। बस यह कि ईश्वर जिस को यह हालत नसीब करे वही समझ सकता है। अब न कलम में शक्ति है, न ज़बान में कि कुछ लिख सके या कह सके। अब आप स्वयं ही फ़ैसला कर लीजिये कि हृदय का विस्तार कहां तक है, और किस तरह से; और यह भी अन्दाज़ा लगा लीजिये कि आप के दिल का बढ़ाव कितना हुआ है।

—एक अभ्यासी को लिखे गये पत्र से उद्धत।

"बिजया दशमी के उपलक्ष में"

मोहब्बत की आओ कहानी सुनायें, गुज़रती है दिल पर जुबानी सुनायें।
१ २ ३
कुशायानें राज़ेमोहब्बत हो क्यूकर, फ़ुग़ाँ दिल से निकले उसी को सुनायें।
न यह अपने बसमें न वह अपने बसका, फ़साना किसी का किसे हम सुनायें।
अजब तेरी क़ुदरत अजब तेरी फ़ितरत, किसे हम बतायें किसे हम सुनायें।
४ ५
यह आग़ाज़ तेरा वह अजांम तेरा, वक़ा और फ़नाकी कहानी सुनायें।
बदलते हैं हस्ती बदल देने वाले, खुदी को खुदी से खुदी को मिटायें।
६
यह सँगे यदा या तबज्जोइ किसी को, उठाई निगाहें और बरसी घटायें।
७
तजल्ली से अपने किया तू ने रोशन, झुका कर यह सर तेरे सिजदे में लायें।
यह इलमें रोहानी फले और फूलें, जो सोते हैं "अखतर" उन्हें हम जगायें।

मुसाहबराय शाहबादी १९-१०-६१

(१ खोलना) (२ भेद) (३ रंजीदा आवाज़ (४ ज़िन्दगी) (५ लय होजाना) (६ वह कीमती पत्थर जिस को आसमान की तर्फ दिखाने से पानी बरसने लगता है) (७ तेज़ रोशनी या जलाल)

श्रद्धा

कुमारी छाया सक्सेना एम० ए०

जीवन में मनुष्य को न जाने कितने टेढ़े मेढ़े रास्तों से गुजरना पड़ता है और उसके सामने एक प्रश्न उठता है कि उसके जीवन का लक्ष्य क्या है। उसे अपने लक्ष्य तक पहुंचने के लिए एक ऐसे मार्ग को चुनना पड़ता है जो उसके जीवन को उन्नति के मार्ग पर अग्रसर कर सके। कभी २ मनुष्य अपने मार्ग से भटक कर त्रुटिपूर्ण रास्ते पर पहुँच जाता है ऐसा तभी होता है जब हम अभाग्यवश गलत ट्रेनिंग और गलत guidence में फँस जाते हैं। अतः यह अत्यन्त आवश्यक है कि हमें अपने जीवन की वास्तविकता को जानने के लिए सही रास्ता मिले। जीवन के वास्तविक मार्ग को पाने के लिए श्रद्धा अत्यन्त आवश्यक है। अपने जीवन के वास्तविक मार्ग को खोजने में शीघ्रता नहीं करनी चाहिए बल्कि अपने अंतिम लक्ष्य तक पहुँचने के लिए चित्त को शान्त, स्वच्छ और एकाग्र रखना चाहिए। हमें यह सोच कर रास्ता ग्रहण नहीं करना चाहिए कि यह पुराना है क्यों कि पुरानी वस्तु सदैव ठीक ही नहीं होती उसमें रूढ़िवादी विचार अवश्य ही अपना स्थान ग्रहण कर लेते हैं। अथवा समाज के अधिकतर लोग इस पर चल रहे हैं इस बात को देख कर भी रास्ता ग्रहण करना अनुचित हैं क्यों कि समाज सदैव सही रास्ते पर ही नहीं चलता वह हमें भटका कर गलत रास्ते पर भी ले जा सकता है। कभी २ किसी के प्रति अत्यधिक आकर्षण भी हमारी श्रद्धा का कारण हो जाता है वह किसी के भाषण आदि सुनकर हो जाता है परन्तु यहां पर भी हमें वास्तविकता को पहले जान लेना चाहिए तब उस रास्ते को ग्रहण

करना चाहिए। वाह्य आडम्बर जैसे गेरुआ वस्त्र आदि को देखकर भी लोगों की श्रद्धा अकारण ही उस ओर हो जाती है, परन्तु श्रद्धा करने से पूर्व हमें श्रद्धेय का वाह्य रूप न देख कर अन्तर में घुस कर देखना चाहिए कि वास्तव में वह हमारी श्रद्धा का अधिकारी है अथवा नहीं। श्रद्धा सदैव ही हमारी उन्नति में साधक है बाधक नही। श्रद्धा के द्वारा ही हम अपने सही मार्ग को पा सकते हैं।

मूर्तियों पर भी लोगों की श्रद्धा होती है परन्तु यह श्रद्धा का स्थूल रूप है। यह श्रद्धा का सत्य रूप नही होता। बिना बिचार किये यदि किसी मार्ग का अनुसरण कर लिया जाता है तो वह वास्तविक श्रद्धा नही कहलाती। कुछ लोग अंधो की भांति विना खोज और निर्णय के ही प्रत्येक मार्ग का अनुसरण करने लगते हैं वे ही अपने मार्ग से भटक जाते हैं और ग़लत रास्ते पर जा कर अपने जीवन के बहुमूल्य समय को व्यर्थ ही गवाँ बैठते हैं। कभी कभी ऐसा भी होता है कि ठीक रास्ता मिल जाने पर भी लोग उसे शीघ्र नही अपनाते क्यों कि वे समझते हैं कि उस मार्ग पर चलकर वे सम्भवतः अपने लक्ष्य तक नहीं पहुँच सकते। इसका अर्थ यह है कि उनका सोचना एक सीमा के अन्दर है और वे उन्नति की ओर अग्रसर होना नही चाहते।

श्रद्धा क्या है और वह किस के प्रति की जानी चाहिए यह एक जटिल प्रश्न है इस प्रश्न को सुलझाना आध्यात्मिक जीवन के लिए अत्यन्त आवश्यक है। जब हम किसी व्यक्ति में ऐसे विशिष्ट गुण या शक्ति पाते हैं जो साधारणतयः सामान्य मनुष्यों में नहीं होती तो उस विशिष्ट गुण या शक्ति को देख कर मन में एक ऐसा आनन्द उत्पन्न होता है जो स्थायी रहता है। लोग आनन्द की इसी भावना

को श्रद्धा कहने लगते हैं। परन्तु आनन्द और खुशी में बहुत अन्तर है आनन्द की स्थिति में वाह्य सुख अथवा दुख मन पर अपना कोई प्रभाव नहीं डाल पाते। उसमें सुख तथा दुख दोनों में ही स्थिति समान रहती है मनुष्य को इन दोनों का ही कोई अनुभव नहीं होता परन्तु खुशी में यदि किसी शुभ कार्य के सम्पन्न होने पर प्रशन्नता होती है तो उसी उसी क्षण दुख की स्थिति में मनुष्य क्षण मात्र में दुखी भी हो जाता है। यदि श्रद्धेय के निकट जाने पर वास्तविक आनन्द की स्थिति उत्पन्न हो जाये तो श्रद्धेय हमारी श्रद्धा का पूर्ण अधिकारी है। कभी २ ऐसा होता है कि लोग किसी बुरे कर्म करने वाले व्यक्ति की ओर आर्कषित हो जाते हैं। उससे होता यह है कि प्रत्यक्ष में उसके बताये हुए मार्ग पर न चलने से भी अप्रत्यक्ष रूप से निरतर बुरे कर्म अपना प्रभाव डालते रहते हैं फलस्वरूप मनुष्य वैसा ही बनने के लिए बाध्य हो जाता है जैसे यदि कोई डाकुओं के साथ में रहने लगे तो डाकुओं के गुण ही उसमें आ जायेगे और वह डाकू बनने के लिए मजबूर हो जायेगा। इसलिए किसी की ओर आर्कषित होने तथा श्रद्धा करने से पूर्व यह ध्यान रखना चाहिए कि श्रद्धेय सदैव ही अच्छे गुणों वाला हो और हमें अच्छा रास्ता दिखाने में सहायक हो सके। इसके अतिरिक्त हमारा श्रद्धेय उस धुर तक पहुँचा हुआ होना चाहिए जहां तक कि हमें पहुंचना है अन्यथा हम अधिक आगे नहीं बढ़ सकते क्योंकि जब हमारा श्रद्धेय ही उस सीमा के आगे बढ़ा हुआ नही है तो हम किस प्रकार आगे बढ़ कर अपने लक्ष्य तक पहुँच सकते हैं। इसके अतिरिक्त जब हम अपने श्रद्धेय के निकट जाते है तो हमें हल्कापन महसूस होता है अथवा भारीपन। स्थूलता का अनुभव होता है अथवा सूक्ष्मता का इसका समझना अत्यन्त आवश्यक है। यदि हमें हल्केपन और सूक्ष्मता के साथ ही

एक अद्भुत आनन्द का अनुभव होता है तो वास्तव में वह गुरू हमारी श्रद्धा का अधिकारी है । श्रेष्ठ गुण वाले श्रद्धेय पर श्रद्धा करने से हम में भी अच्छे गुणों का समावेश होगा और तब केवल श्रद्धा मात्र से ही हम अपने लक्ष्य तक पहुँच जायेंगे । श्रद्धा में हम अपने श्रद्धेय के महत्व को तो स्वीकार करते ही हैं साथ ही साथ उसके प्रति हमारे हृदय में पूज्य-भाव का भी संचार होने लगता है। जिन गुणों तथा कर्मों के कारण यह श्रद्धा उत्पन्न होती है उनका होना संसार को सदैव प्रिय लगता है । अतः श्रद्धाके मूल में लोक कल्याण की भावना प्रमुख रहती है ।

श्रद्धा और प्रेम एक ही मूल अनुभूति सुत्र से उत्पन्न होते हुए भी उनके स्वरूप में विशेष अन्तर रहता है । श्रद्धा श्रद्धेय के गुणों के कारण होती है । महान श्रद्धेय के प्रति श्रद्धा रखने वाले अगणित संख्या में मिल जाते हैं अतः श्रद्धा कुछ व्यक्ति बिशेषों तक ही सीमित नहीं होती । इसके अतिरिक्त प्रेम का क्षेत्र दो-एक व्यक्तियों तक ही सीमित रहता है । अतः प्रेम भावना में गहराई होती है और उसका क्षेत्र संकुचित होता है । इसके बिपरीत श्रद्धा में बिस्तार अधिक होता है । श्रद्धेय का महत्व उसके गुणों और कर्मों से आँका जाता है और उस से प्रेरणा पाकर अनेक व्यक्ति उसकी ओर आकर्षित होकर अपने सही रास्ते को पाकर अपने लक्ष्य तक पहुंच जाते हैं । धर्म भावना के मूल में श्रद्धा की स्थिति रहती है । बह्य रूप रेखा से श्रद्धा से कोई सम्बन्ध नहीं होता । जब हम किसी के कर्मों की प्रशंसा सुनते हैं । तो तुरन्त हमारा ध्यान श्रद्धेय की ओर जाता है । जब हम स्वयं भी उस मार्ग को अपनाना चाहते हैं तो हमारी दृष्टि श्रद्धेय की ओर जाती है जो कि हमारे जीवन का आदर्श बन जाता है । श्रद्धेय अपने आलौकिक गुणों के कारण ही सुन्दर और आकर्षक स्थान प्राप्त

कर लेता है और श्रद्धालु व्यक्ति श्रद्धेय के मार्ग को अपनाने के लिए उसकी ओर आकर्षित होते है । जब किसी समाज में ऐसे सत्कर्म करने बाले श्रद्धेय का जन्म होता है तो अनेक व्यक्ति उस से प्रेरणा पाकर अपने जीवन के ठीक मार्ग को पाकर आध्यात्मिकता की ओर अग्रसर होते हैं । इस प्रकार सम्पूर्ण समाज का कल्याण होता है । जिस प्रकार सूर्य अपनी किरणों को शक्ति द्वारा मेघ-खंडो को उत्पन्न एंव एकत्र कर घनघोर बर्षा द्वारा संसार के ताप को हरण कर लेता है उसी प्रकार आध्यात्मिकता में ऊंचा उठा हुआ हमारा श्रद्धेय जिसे हम आध्यात्मिक गुरू भी कह सकते हैं अपनी आध्यात्मिक शक्ति के द्वारा शीतल वर्षा कर हमारी संस्कारो रूपी ताप को जड़मूल से नष्ट कर के शांति और शीतलता प्रदान करता है जिस से हमें ऐसा आलौकिक आनन्द प्राप्त होता है जिस की समता विश्व की कोई भी निधि नही कर सकती ।

प्रेमी अपने प्रिय का चिन्तन उसे अपने में सीमित करके करता है परन्तु श्रद्धेय का चिन्तन सम्पूर्ण जगत को साथ लेकर किया जाता है । श्रद्धा में हम जागृत अवस्था के समान श्रद्धेय के कर्मो का बिस्तार देखते हैं । श्रद्धा का कारण स्पष्ट होता है । जब हमारे हृदय में किसी के प्रति श्रद्धा उत्पन्न होती है तो उसका कारण हमारे श्रद्धेय के गुण तथा सत्कर्म होते हैं । श्रद्धालु अपने श्रद्धेय पर एकाधिकार की भावना नही रखता वह चाहता है कि उस के श्रद्धेय पर अन्य लोग भी श्रद्धा करें । परन्तु प्रेम में भिन्न स्थिति होती है वहां पर प्रेमी एकान्त प्रेम चाहता है । श्रद्धा में कृतज्ञता की भावना रहती है परन्तु उसमें आनन्द की भावना सर्वोपरि रहती है । जब हम आनन्द से भर कर अपने गुरू के प्रति कृतज्ञता प्रगट करते हैं तब उस भावना को श्रद्धा कहा जाता है । कृतज्ञता की भावना जब 'स्व' से बढ़ कर

समीप्ट तक फैल जाती है तभी गुरू के प्रति श्रद्धा का उदय होता है श्रद्धा का उदय हो जाने के पश्चात ही हमें गुरू से वास्तविक लाभ हो सकता है ।

कभी कभी ऐसे बिज्ञानों के प्रति भी श्रद्धा हो जाती है जो विज्ञान तो होते हैं परन्तु वे अपने ज्ञान का फल दूसरों को नही पाने देते । यहां पर भी श्रद्धा का सही रूप नही होता और न यह वास्तविक विद्वता ही होती है । वास्तविक विद्वता वही है और सच्चा गुरू भी वही है जो अत्यन्त कष्ट, परिश्रम और चिन्तन के द्वारा ज्ञान प्राप्त कर लेता है और वह लोक-कल्याण के लिए अपनी महान निधि को दोनों हाथों लुटाने में नहीं हिचकता । तभी वह हमारी वास्तविक श्रद्धा का अधिकारी हो सकता है । लोगों की श्रद्धा से ऐसे श्रेष्ठ गुरू को आत्मिक बल मिलता है वह प्रसन्नता से अपनी आध्यात्मिक निधि को लोगों को देने में नही हिचकता ।

आध्यात्मिक जीवन के लिए श्रद्धा अत्यन्त आवश्यक तथ्य है । जब तक हम अपने श्रद्धेय गुरू पर पूर्ण रूप से श्रद्धा (बिश्वास नही करते तब तक हम गुरू से पूर्ण लाभ नही प्राप्त कर सकते और न आध्यात्मिक जीवन के वास्तविक आनन्द को ही प्राप्त कर सकते हैं । परन्तु हम जिस के ऊपर श्रद्धा करते हैं वह आध्यात्मिकता में अत्यन्त ऊंचा उठा हुआ होना चाहिए और हमें यह विश्वास होना चाहिए कि उसके द्वारा हम आध्यात्मिकता की सीढ़ियों को पार कर सकेंगें । गुरू ही हमें सही रास्ते को दिखाने के लिए प्रकाश का काम करता है । जिस प्रकार एक ही सूर्य सम्पूर्ण विश्व को अपने प्रकाश से प्रकाशित कर देता है उसी प्रकार हमारा आध्यात्मिक गुरू भी सम्पूर्ण विश्व के लोगों की कालिमा को दूर कर देता है और लोगों को

आध्यात्मिक आनन्द की अनुभूति करने में सहायता देता है । सच्चे गुरू के बताये हुए मार्ग पर चल कर ही हम आध्यात्मिकता के क्षेत्र में उन्नति कर सकते हैं । यदि हम आध्यात्मिकता के क्षेत्र में आध्यात्मिक अनुभव और कारण जानना चाहते हैं तो वह श्रेष्ठ गुरू पर विश्वास अथवा श्रद्धा कर के ही कर सकते हैं । जब हम गुरू पर पूर्ण रूप से श्रद्धा करेगे तभी वह हमें श्रेष्ठ मार्ग के द्वारा आध्यात्मकता की सैर कराने में नही हिचकेगा । जब हम पूर्ण रूप से सद्गुरू पर श्रद्धा कर सकेगें तभी हमें आध्यात्मिकता की ओर आकर्षण उत्पन्न होगा तथा लाभ प्राप्त होगा । जब हम सद्गुरू के बताये हुये मार्ग पर चलेंगे तो हमें अपने आध्यात्मिकता के क्रमिक विकास का अनुभव होने लगेगा और तब हमें स्वतः अपने सद्गुरू पर श्रद्धा प्रेम दोनों उत्पन्न हो जायेंगे । हमारी श्रद्धा हमारी आध्यात्मिक उन्नति मे अत्यन्त सहायक होगी । श्रद्धा वह मजबूत शिला है जिसके द्वारा आध्यात्मिकता का मजबूत महल खड़ा हो सकता है ।

कुछ लोग श्रद्धा के विषय में अत्यन्त तुच्छ विचार रखते हैं । वे यह विश्वास करते हैं कि गुरू के ऊपर श्रद्धा रख कर वे अपने सांसारिक जीवन की समस्याओं को सुलझा सकते हैं यह त्रुटिपूर्ण हैं । यद्यपि सद्गुरू के लिए सभी कुछ सम्भव है परन्तु हमें गुरू के उस महान कार्य और उद्देश्य को नही भुला देना चाहिए जिसके लिए वह दुनिया में भेजा गया है । आध्यात्मिकता की सैर कराना ही गुरू का सबसे महान कार्य है अतः हमें सांसारिक जीवन की छोटी २ बातों को पूर्ण करवा कर गुरू के बहुमूल्य समय को नष्ट नहीं करना चाहिए बल्कि यह प्रयत्न करना चाहिए बल्कि यह प्रयत्न करना चाहिए कि आध्यात्मिक कार्य करने के लिए गुरू को अधिक से अधिक समय मिल सके ।

श्रद्धा वास्तव में अनन्त से सम्बन्धित है वह गुरू की कृपा के बिना सम्भव नहीं। गुरू स्वयं अनन्त से सम्बन्धित होता है। आध्यात्मिक जीवन के क्रमिक विकास में एक स्टेज ऐसी आती जब वास्तविक श्रद्धा उत्पन्न होती है। वास्तविक श्रद्धा तभी उत्पन्न होती है जब साधक पूर्णरूप से आत्म समर्पण कर देता है। श्रद्धा के द्वारा ही हम सही रास्ता पा सकते हैं। केवल यही वह तथ्य है जिस के द्वारा हमारे जीवन की महत्वपूर्ण समस्या सुलझ सकती है और हम अपने जीवन के महान लक्ष्य तक पहुँच सकते हैं। वास्तविक श्रद्धा तभी होती है जब श्रद्धा के साथ ही साथ गुरू के प्रति प्रेम भी उत्पन्न हो जाये। प्रेम और श्रद्धा के सयोग को भक्ति कहा जाता है लोगों के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है। श्रद्धेय के प्रति पूज्य-मान की निरंतर वृद्धि होती रहे और आगे चल कर यह भावना उत्पन्न होने लगे कि हम अपने श्रद्धेय के सदैव समीप रहें उनके विभिन्न कार्यों को पास रह कर देखें उनकी मधुर वाणीको सुनने के लिए सदैव लालायित रहे। तो इस भावना को भक्ति कहा जायेगा। साधक अपने श्रद्धेय के पास रहने के लिए तब तक व्यग्र नही होता जब तक उसकी श्रद्धा के साथ में प्रेम का योग नहीं हो जाता जिस प्रकार प्रेम में प्रेमी के लिए एकाधिकार की भावना रहती है वैसा भक्ति में नहीं होता क्यों भक्ति में प्रेम और श्रद्धा का योग होने से एकाधिकार की भावना समाप्त हो जाती है वह अपने गुरू पर सबका समान अधिकार समझता है। अपने गुरू के लिए साधक के हृदय में ईर्षा की भावना नहीं रहती। गुरू पर जब अन्य लोग भी श्रद्धा करते हैं तो साधक के हृदय में एक आनन्द की लहर दौड़ पड़ती है।

—❀❀❀—

देह और आत्मा

कु० पुष्पा रानी सक्सेना मिश्रिख

हम आंखों से जिन २ रूपों को देखते हैं उन्हें हम मूर्ति, आकार, देह आदि की उपमा दे देते हैं। यद्यपि वाह्य मूर्ति का परिचय हमारी आँखों को हो जाता है। किन्तु उस वस्तु के अन्तर्गत हमें देखना ही पड़ता है कि उसका वाहरी स्वरूप ऐसा है तो भीतरी कैसा होगा? लीची को देखिए उसका बाहरी स्वरूप तो कटीला होता है परन्तु उसके छीलने पर उसके अन्दर कितना अच्छा रसीला तथा स्वादिष्ट गूदा निकलता है। उसी तरह से हमारी देह और आत्मा है। किसी वदसूरत व्यक्ति को देखते ही हम कहने लगते हैं कि देखो तो वह कितना काला है या उसकी शक्ल अच्छी नहीं हैं। इस तरह से हमने वाहरी स्वरूप को देखकर तो ऐसा कह दिया, किन्तु उसके भीतर अर्थात् उसकी आत्मा की ओर ध्यान ही नही दिया कि उस वदसूरत व्यक्ति की अन्तरात्मा कितनी शुद्ध, पवित्र तथा भावनाऐं कितनी निर्मल हैं। अष्ठावक्र जी का शरीर आठ जगह से टेढ़ा था एक बार जब वह राजा जनक के दरवार में आए तो सभी दरबारी उन्हें देख कर हंस पड़े। अष्ठावक्र जी ने हंसते हुए कहा, "तुम सभी चमार हो और चमड़े की परख में निपुण हो। इस चमड़े में क्या रखा है। सारे शरीर पंचभूत की रचना हैं चाहे वे कितने ही सुन्दर हों अथवा कुरूप। इस शरीर के अदर की आत्मा को जो पहचाने वही वास्तविक पारखी है। यह सुनकर सभी दरबारी नत मस्तक हो गए। किसी ने कहा है—

जाति न पूछो साध की, पूँछो उसका ज्ञान।
मोल करो तलवार का, पड़ी रहन दो म्यान॥

देह और आत्मा में बहुत बड़ा अन्तर है। यदि हम देह की उपमा गृह से तथा आत्मा की गृहस्वामी से दे तो अधिक उत्तम होगा। जिस तरह से स्वरूप और पवित्र गृह में रहने से हमारा चित आनन्दित होता है, उसी तरह से यह आत्मा भी है। यदि देह रूपी गृह स्वच्छ और पवित्र है तथा हृदय कालिमा, स्थूलता तथा विकारों से परे है तो निश्चय ही वह आत्मा, परमात्मा के रूप में दृष्टिगोचर होने लगेगी। जिस मनुष्य की देह अपवित्र, और जीर्ण है तथा हृदय कालिमा ठोसता तथा विकारों से परिपूरित है तो ऐसे मनुष्य की गणना न्यून श्रेणी में आ जाती है। यदि देखा जाय तो बहुत कम ऐसे मनुष्य मिलेंगे जो सीना ठोककर यह कहने का साहस करें कि हमारा शरीर स्वच्छ तथा पूर्णरूप से पवित्र है तथा हमारे हृदय पर किसी भी प्रकार की कालिमा या ठोसता को छाप नहीं हैं।

जरा भी कष्ट या बीमारी पड़ने पर हम सब यह। करने लगते हैं कि हमको इस प्रकार का कष्ट है या हम इस दुख से दुखी हैं। परन्तु वास्तव में दुख सुख, तकलीफ आराम को वहन करने वाला शरीर में एक दूसरा ही यंत्र होता है। जिसे हम मन कहते हैं। आत्मा के लिए न दुख है न सुख है न कोई तकलीफ ही है और न आराम ही। यह जैसी थी वैसी ही अब है भविष्य में भी सर्वदा वैसी ही रहेगी। किसी शायर ने कहा—

न होती गर खुदी हम में तो जो तू था वही हम थे।
यह परदा किस लिए डाला है यारब दरमियां तुमने॥

जहाँ तक इस खुदी का सम्बन्ध है और जितनी ही अधिक यह हममें पैदा होती जाती है उतना ही हमें अपने पन के भान करने के कारण उस परम्पिता की महानशक्ति माया के भंवर में फँसते जाते हैं और उतना ही उस सर्वशक्तिमान से दूर तथा शरीर के निकट होते जाते हैं।

हम अपने जीवन में नित्यप्रति जो भी कार्य करते हैं वह शारीरिक सुख के लिए ही करते हैं। यहाँ तक कि देवी देवताओं की पूजा में भी कुछ न कुछ स्वार्थ निहित रहता ही है। फल स्वरूप जीवन की अन्तिम घड़ियाँ कितनी दुखमय हो जाती हैं यह नित्य ही देखने में आता है। फिर चौरासीलाख की बात ईश्वर ही जाने।

जब से संसार की उत्पत्ति हुई तब से आज तक हमने इस चौरासी लाख के फेर में कितने शरीर धारण किए यह नहीं कहा जा सकता। इसका कारण मेरी समझ से तो अपना वास्तविक रूप न पहचान कर और मुख्य ध्येय (जो ईश्वर प्राप्ति और मोक्ष के अतिरिक्त दूसरा हो ही नहीं सकता) से अलग रह कर तथा दैहिक सुख के लिए भिन्न २ प्रकार के प्रयत्न करना है।

हम देह को ही सब कुछ मान बैठे हैं हमारी यही भावना हमारे दुख और सुख का कारण बनी हुई है। सुकरात ही को ले लीजिए उसको विष देकर मारने की सजा दी गई थी। मरते समय उसने कहा "मैं अब बूढ़ा हो गया हूँ। चार दिन के बाद मेरी देह छुटने वाली थी जो मरने वाला था उसे मार कर आप लोग कौन सी बहादुरी कर रहे हैं। जरा सोचो तो यह शरीर एक दिन अवश्य ही मरने वाला है। जो मर्त्य है उसे मारने में कौन सी तारीफ वाली बात आप लोग कर रहे हैं।" जिस दिन सुकरात को विष दिया जाने वाला था उसकी एक रात पहले वह शिष्यों को आत्मा के अमरत्व की शिक्षा दे रहा था। चर्चा समाप्त होने पर उनके एक शिष्य ने पूंछा मरने पर आपकी अन्त्येष्टि क्रिया कैसे की जाय? उसने जवाब दिया खूब! मारेंगे तो वे और गाड़ोगे तुम! तो क्या वे मारने वाले मेरे दुश्मन होगए और तुम गाड़ने वाले मुझ से बड़ा

प्रेम करने वाले होगए ? वे अक्लमंदी से मुझे मारेंगे और समझदारी से तुम मुझे गाड़ोगे । तुम कौन हो मुझे गाड़नेवाले ? मैं तुम सब में पूरा पड़ने वाला हूँ । तुम किसमें मुझे गाड़ोगे ? मिट्टी में या मास में ? मुझे न कोई मार सकता है और न कोई गाड़ ही सकता है । आत्मा अमर है । उसे कौन गाड़ सकता है और कौन मार सकता है ।" यह थे सुकरात के महान विचार । महात्मा ईसा के शरीर में कीलें ठोंक ठोंक कर मार रहे थे कहते हैं उस समय उनके मुंह से यह उद्गार निकले भगवान इतनी यातनाएं क्यों देते है ?" किन्तु फौरन प्रभू ईसा ने अपने को संभाला और कहने लगे "प्रभू तेरी ही इच्छा पूर्ण हो, इन लोगों को क्षमा कर । वह यह नही जानते हैं कि यह क्या कर रहे हैं ।" ईसा के उन वाक्यों में कितना रहस्य भरा हुआ है । देह से आत्मा को कितना अलग करना चाहिए इसका यह प्रतीक है ।

देह साध्य नही साधन है । ऐसा मानेंगे तभी हम अपनी अजर अमर अविनाशी आत्मा को केवल मिट्टी मात्र से बनी हुई देह से अलग कर सकने में समर्थ हो सकेंगे । मरने के बाद देह ही नष्ट हो जाती है, बेकार हो जाती है पर वह अर्थात् उसकी आत्मा तो अन्त समय तक एक सी ही बनी रहती है । और ढांचे रूपी शरीर के अलग होते ही अन्तर में विलीन हो जाती है ।

पाठकों आपसे मेरा विनम्र निवेदन है कि आप अपनी पूर्ण लगन व तत्परता से किसी ऐसे सदगुरू की खोज में लग जायँ जो अपनी शक्ति से आप लोगों के परिश्रम को सफल कर सकने की सामर्थ्य रखता हो । और यह तो निश्चित ही है कि जब तक हम व आप उपरोक्त लिखित जैसे सद्गुरू की शरण न गहेंगे तब तक कल्याण नही हो सकता । हमारे श्री रामचन्द्र मिशन में सहजमार्ग द्वारा मिशन के प्रधानाचार्य जी ने ऐसी युक्तियां निकाली है जिनके द्वारा जीवन के थोड़े से ही समय में हम सहजरूप से लक्ष्य प्राप्ति कर लेते हैं ।

शान्ति

आज मानव की पुकार शान्ति हैं । देश राष्ट्र व व्यक्ति चाहे वह साधारण हो चाहे नेता सबका यही नारा है । मनुष्य वही चाहता है जिसकी वह कमी अनुभव करता है अतः यह सिद्ध हुआ कि आज के संसार में जितनी अशान्ति मानव जीवन में व्याप्ति है उतनी सम्भवतः कभी नहीं रही । कोने २ से वह कराह उठा है और अपने जीवन के उस मोड़ पर पाता है जहां विनाश के दृश्य दिखाई देते है । प्रश्न सीधा व सरल हैं कि ससार किस पथ पर जारहा है सत्य या विनाश अथवा योग पथ पर या भोग पथ पर – जब हम इस प्रश्न पर विचार करेंगे तो यह स्पष्ट हो जायेगा कि हमारा रुख किधर है और उसके बदलने के आचार क्या है ।

पहले हमें "शान्ति" के अर्थ पूर्ण रूपेण समझ लेना चाहिए । साधारणतया (भोग 'शान्ति' का अर्थ समझते है कि लड़ाई झगड़ा न होना तथा ऐसे वातावरण का निर्माण होना जिसमें शक्तियों का संघर्ष न हो—यह अर्थ साधारण व्यक्ति नहीं किन्तु, आज बड़े बड़े राष्ट्रों के नायक भी समझते हैं । और उसका उसी प्रकारका निराकरण सोचते हैं । वास्तव में 'शान्ति' वह स्थिति है जो मनुष्य के आदि में थी— "शून्य" जिसमें सुख-दुख आदि कोई भी द्वन्द न हों— राग द्वेश-शून्य स्वार्थपूर्ण प्रेरणा में अनाशक्ति प्रवृति भावनाओं और आवेगों की उदात्तता, सरलता, एवं सहजता का नाम शान्ति है । ऐसी स्थिति में प्राणी अन्दर से निश्चल नीरव बना रहता है । क्रिया उसकी बाह्य आन्तरिक सत्ता में चला करती हैं ।

मानव किस शान्ति की खोज में है यही उसे नहीं मालुम, उसके साधनों को जानना तो बड़ी दूर की बात रही— ज्यों ज्यों शान्ति की पुकार बढ़ती जाती है त्यों २ अशान्ति भी बढ़ती जाती है कारण यह कि हम अशान्ति पैदा करने वाले कारणों पर दृष्टि नहीं डालते, केवल उसके बाह्य रूप को देखते हैं— हर अशान्ति के कारण को मनुष्य ने स्वयं पैदा किया है और वह उसको स्वयं ही मिटा सकता है। जब पहले हम अपने में शान्ति स्थापित करले तो शायद दूसरों पर प्रभाव डाल सकेंगे मगर उनकी अशान्ति दूर नहीं हो सकेगी जब तक वह कारण उनमें मौजूद हैं। सारांश यह कि जब तक हम शान्ति के वास्तविक स्वरूप को नहीं जान पाते और अशान्ति के कारणों को जड़ से उखाड़ कर नहीं फेकदेते तब तक शान्ति स्वप्न में भी नहीं प्राप्त हो सकती। जब तक व्यक्तिगत शान्ति नहीं होती तब तक किसी देश या विश्व में असम्भव है।

आज विश्व ने जो पथ अपनाया हैं वह भोग पथ है— हर व्यक्ति आज के युग मे अपनी शान, प्रतिष्ठा व संसार की सभी वस्तुऐं जो भोग के लिए सुलभ है पाने का केवल इच्छुक नहीं वरण उनके प्राप्त करने में एक दूसरे का गला काटता हैं। इसी प्रकार राष्ट्रों का हाल है अपनी कटुनीति तथा पाशवेक बल से एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र को दबाना चाहता है। प्रश्न होता है कि यह सब क्यों ? उत्तर स्पष्ट है कि भोग पथ का यह स्वाभाविक परिणाम हैं।

हम वैज्ञानिक युगमें रह रहे हैं। विज्ञानने मनुष्य के भोग केलिये बहुत सी नई खोजें की हैं। परन्तु साथ ही साथ उसके विनाश के लिये विकराल अस्त्र शस्त्र भी ढूढ़ निकाले हैं जिनके नाम से मानवता चीख उठी है और आज विश्वके सभी राष्ट्र विश्व शाति या विश्वप्रेम का नारा लगाते है- क्या वास्तव में यह उनके हृदय की सच्ची पुकार

है या केवल विडम्बना मेरी समझ में यह उनकी पुकार भय-जन्य हैं। वैज्ञानिक आविष्कारों द्वारा उत्पन्न संघारकारी शस्त्रों के कारण एक राष्ट्र दूसरे से भयग्रस्त है। क्यों की उसमें उसको अपने विनाश का भी दृश्य दिखाई देता है। उसकी अशान्ति दिन प्रति दिन बढ़ती जाती है। जिस के फलस्वरूप संघारकारी शक्तियों का अन्वेषण भी दिन प्रतिदिन बढ़ता जाता है। भय व शान्ति विपरीत बस्तुएँ हैं। जहाँ भय है वहां शान्ति नहीं और जहां शान्ति है वहाँ भय नहीं। अपने भोग के साधनों के छूट जाने तथा अपने भोगकी लालसा को बढ़ावा देने में कमी की भय से राष्ट्रों ने संसार को आज प्रलय के किनारे ला खड़ा कर दिया है जिसका निदान अब स्वयं उनके समझ में नहीं आरहा है।

मोटे तौर पर शक्तियाँ दो प्रकार की हैं। १-भौतिक (Physical) २-अध्यात्मिक (Spiritual) विज्ञान का क्षेत्र भौतिक शक्ति है और इसी का आविष्कार करके संसार को चकाचौंध कर दिया है और मनुष्य इसी शक्ति को सब कुछ मान बैठा है। परन्तु परिस्थितियां अब मानव को मजबूर कर रही हैं कि दूसरी ओर दृष्टि डाले। शनैः शनैः मनुष्य यह महशूस कर रहा है कि कोई और भी शक्ति है जो इससे परे है और जो शान्ति की स्थापना तथा भौतिक शक्तियो को मानव जाति के सदुपयोग के नियत्रंण के लिये अति आवश्यक हैं। दुनियाँ ने इस शक्ति पर पर्दा डाल रखा है। भारतवर्ष में किस्मत से हमें इस शक्ति का परिचय तथा अनुभव कराने वाले मिलते हैं सम्भवतः संसार को इनकी शरण लेना पड़ेगा।

योग मानव का प्राकृतिक जीवन है उसका धर्म है और यही पथ है जिस पर चल कर वह अपने अन्तरतम अस्तीत्व को प्राप्त करके परम शान्ति को प्राप्त हो सकता है। सहज मार्ग इसी दशा में प्रयत्न

शील हैं। सहज मार्ग की साधना द्वारा अभ्यासी का व्यक्तित्व उत्तरोत्तर सम्पूर्ण प्रकृति की मूल व्यवस्था के साथ एक रूप होता चला जाता है और शनैः शनैः उसके अनन्त मुक्तस्वरूप को दिव्य ज्योतिमयी दिशाएँ विकसित होती जाती हैं। साधक परिवारमें रहता हुआ अपने जीवन उपाजन्ति का प्रयत्न करता हुआ अपने को सब में और सब से अलग पाता है उसका स्वकेन्द्रित जीवन मिट जाता है और उसकी सीमित दृष्टि बदल जाती हैं। उसमें समत्व व संतुलन आ जाता है। फिर कहाँ अशान्ति, भय, व वैर इत्यादि। सारा ससार अपना और वह संसार का बन जाता है। सहज मार्ग संसार की सेवा तथा मनुष्य जनते के निवरिण हेतु जो प्रयत्न कर रहा है वह केवल सराहनीय नहीं' किन्तु अति—आवश्यक हैं आशा है कि लोग इससे लाभ उठाकर वास्तविक सुख व शान्ति का जीवन व्यतीत करेंगे।

समाप्त

भैरों प्रसाद श्रीवास्तव

—※—

मेरी अब राखो लाज हरी।
ऐसी ठगनी माया देखी लूटै हाट खड़ी,
संभल २ पग धरो मुसाफिर बीती जाति घरी।
गोकुल ढूंढी मथुरा ढूंढी काशी ढूंढि फिरी,
क्यों नहीं खोजता नैन बावरे उर बिच बस्तु धरी॥
जनम २ के संसकारों की काली घटा घिरी,
अन्धकार सब दूर हुआ जब अन्तर ज्योति जरी।
चञ्चल बाह्य दुखी मन भटकति सोचति भलीबुरी,
अन्तर मुखी किया जब उर पे हरि की झलक परी॥
विरहा की आग जरावत जियरा अँसुअन लगीझरी,
तड़पत है मन तेरे मिलने को काहे को देर करी।
है समरथ्य गुरू 'बाबू जी' ज्योति से ज्योति जरी,
लै हुइ बास करत 'लाला जो' है काया दुसरी।
जनम मरण का बन्धन टूटै कोटिन यतन करी,
होगा मुक्त 'हरिश' जग में जब 'सहज मार्ग' पकरी॥

'लगन'

(कु० केसर एम० ए० एल० टी०)

जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में सफलता–जन्य सुख प्राप्त करने के लिए सबसे अधिक आवश्यक वस्तु है 'लगन'। 'लगन' से शून्य कार्य कभी अपनी पूर्णता पर नहीं पहुँचने पाते। इन तीन अक्षरों में जो अपरिमित शक्ति निहित है उसका अनुमान करना सहज नहीं है। चाहे जितनी सुविधायें प्राप्त हों परन्तु लगन के बिना उनसे कोई लाभ नहीं उठाया जासकता है। अतः कार्य की सम्पन्नता लगन पर ही आधारित है।

आध्यात्मिक क्षेत्र में अग्रसर होने की पहली कसौटी लगन ही है। इस क्षेत्र में चरण रखना तो सरल है परन्तु अन्त तक उसका निर्वाह दुसह कार्य है। कारण क्या है कि चरण रखने पर भी साधक पीछे हट जाता है अथवा कुछ दिवस इस क्षेत्र में रमें रहने के उपरांत उसका रमाव या उत्साह कम हो जाता है? इसका एक मात्र कारण लगन की कमी है। कार्य प्रारम्भ करना तो भला लगता है और नवीन कार्य प्रारम्भ करने की लालसा भी बलवती होती है परन्त प्रारम्भ करके उसकी चरम सीमा तक पहुंचना सरल कार्य नहीं है। चरम सीमा तक पहुँचने के लिये अथवा कार्य को प्रपूर्ण करने के लिए असीम धैर्य की आवश्यकता होती है और यह धैर्य साधक में तभी उत्पन्न हो सकता है जब उसमें साधना की लगन हो। इस लगन का सर्वोत्तम और महानतम उदाहरण परमभक्ता मीरा जी हैं। अनेक प्रकार से सताये जाने पर तथा अनेक बाधाओं के मार्ग अवरुद्ध करने पर भी उन्हें अपने लक्ष्य तक पहुँचने में कैसे सफलता मिली? उनका एक मात्र अवलम्ब श्री कृष्ण तक पहुँचने की लगन ही थी। इस लगन

के कारण ही मार्ग के अपरिमित शूलों को उन्होंने पुष्पों की भांति हृदय से लगाया; ससार के अनेक विरोधों का सहर्ष स्वागत किया और अपने निर्धारित लक्ष्य पर पहुँच कर विश्व के सम्मुख इस कथन की कि लगन से कार्य, करने पर सफलता का मुकुट शीश पर अवश्य ही सुशोभित होता है सत्यता का प्रमाण प्रस्तुत किया ।

लगन जहां निर्धारित कार्य में सफलता प्रदान करती है वहीं अनेक गुणों की जन्मदात्री भी है । धैर्य, एकाग्र चित्तता, सहनशीलता तथा अपूर्व निष्ठा को जन्म देकर यह मानव को पूर्ण मनुष्य बनाने में सहायता प्रदान करती है । यह गुण मानव का इहलोक तथा परलोक दोनों ही बनाने में सहायक होते हैं । सांसारिक क्षेत्र में इन्हीं गुणों के आश्रय से व्यक्ति उन्नति के सर्वोच्च शिखर पर आरूढ़ होता है और आध्यात्मिक क्षेत्र में भी वह इन्हीं गुणों को धारण कर ईश्वर का प्रिय आराधक बन जाता है । ईश्वर का कृपा-पात्र बनने के लिये उसके अनूठे स्नेह को प्राप्त करने के लिए उसमें उपर्युक्त गुण उत्पन होकर दृढ़तापूर्वक अपना घर बना लेते हैं और मानव संसारमें रहते हुये भी उससे परे हो जाता है । ईश्वरीय-क्षेत्र में रमण करता हुआ अनुपम सुख व शान्ति प्राप्त करता है । उसे सांसारिक क्लेश व अभावों से ग्रसित नही होना पड़ता अथवा यह कहना चाहिये कि क्लेशों और अभावों को वह उसी भांति प्रसन्नतासे ग्रहण करता है जैसे सुखों को ।

लगन की उत्पत्ति का आधार या कारण तड़प है । जब हमें किसी वस्तु को प्राप्त करने की चाह होती है तभी हम उसे पाने का प्रयास करते हैं । आध्यात्मिक क्षेत्र में तो तड़प का असीम महत्त्व है । जब ध्येय तक पहुँचने की तड़प बलवती होती है तभी साधक में लगन की भावना उत्पन्न हो जाती है और वह अपने ध्येय तक सरलतापूर्वक और शीघ्र ही पहुँच जाता है कभी-कभी एसा भी होता

है कि लगातार एक कार्य को मन या बेमन करते-करते उससे लगाव हो जाता है और अनजाने ही धीरे-धीरे तड़प उत्पन्न हो जाती है अर्थात् लगन से तड़प की उत्पत्ति होती है । प्रथम प्रकार की लगन जो तड़प से उत्पन्न होती है चिरकाल तक अक्षय बनी रहती है किन्तु अनवरत गति से किसी कार्य को करने से उत्पन्न हुई तड़प अधिक टिकाऊ नहीं होती । हाँ यह अवश्य है कि यदि साधक वास्तव में अपने लक्ष्य (ईश्वर) तक पहुँचना चाहता है तो द्वितीय प्रकार से उत्पन्न हुई लगन और तड़प उसके लिए प्रथम प्रकार की तड़प और लगन के समान ही फलदाई होती हैं । इतना अन्तर अवश्य रहता है कि प्रथम प्रकार से उत्पन्न हुई लगन साधक को थोड़े समय में ही सफलता के सोपान पर ला खड़ा करती है और द्वितीय प्रकार की लगन से सफलता देर में प्राप्त होती है । वास्तव में यदि निरपेक्ष दृष्टि से देखा जाये तो लगन और तड़प एक दूसरे की पूरक हैं । एक के बिना दूसरे की स्थिति संभव नहीं ।

लगन की सबसे बड़ी और बहुमूल्य देन विश्वास एवं दृढ़ता है । ईश्वर से लगन लगते ही साधकमें प्रथम गुण विश्वास का ही उत्पन्न होता है । धीरे-धीरे विश्वास दृढ़तर तथा दृढ़तम होता जाता है । ईश्वर पर पूर्ण विश्वास हो जाने पर उसमें आत्मविश्वास अपने पूर्णरूप में अवस्थित हो जाता है । संसार की कोई विघ्न-बाधा, कोई कठिनाई उसे अपने पथ से नहीं डिगा सकती । वह अविचल होकर अपने लक्ष्य पर शीघ्रता से पहुँचता जाता है । माया का बंधन उसके लिए बंधन नहीं रह जाता । सब ओर से निर्द्वन्द होकर वह स्वच्छन्दता पूर्ण जीवन व्यतीत करता है । अतः मानव को पूर्ण मानव और पूर्ण साधक बनाने के लिए 'लगन' ही एक मात्र अवलम्ब है । इसी के आश्रय से मनुष्य ईश्वरीय गति को प्राप्त कर सकता है । अतः प्रत्येक साधक का यह परम कर्त्तव्य है कि वह अपने में लगन की भावना उत्पन्न करे तभी वह आध्यात्मिक गतियों का सुख प्राप्त कर अपने को सार्थक बना सकता है ।

—*—

समय की पुकार

संसार आज वैसा नहीं है जैसा कि हजारों वर्ष पहले था। जो अनुभव और ज्ञान पिछले युगों में अर्जित किया गया उसने मानव जीवन को समुन्नत तथा विकास शील बनाने में बहुत अधिक सहायता की है। आज मनुष्य प्राकृतिक शक्तियों पर विजय प्राप्त कर लेने का दावा कर रहा है। उसने पृथ्वी, जल, वायु पर, तथा स्थान की दूरी पर भी क़ाबू पा लिया है। उस दिशा में उसकी सफलता असन्दिग्ध है किन्तु उसकी यह मञ्जिल अभी पूरी नही हुई है। वैज्ञानिकों के मस्तिष्क अबभी अपेक्षा कृत बड़े बड़े चमत्कारों के लिए प्रयत्न शील है जिसके लिए संसार बहुत आशावान है किन्तु अब तकभी इन उपलब्धियों का अन्तिम परिणाम क्या हुआ? निश्चित रूपसे हमें अपने पूर्वजों की अपेक्षा अधिक सुख सुविधायें प्राप्त हैं और हमारा जीवन भी अपेक्षा कृत अधिक उन्नति-शील अवस्था में है। हमें अपने साधनों पर पहले की अपेक्षा अधिक प्रभुत्व एवं नियन्त्रण प्राप्त हो चुका है; जिसका कि हम सर्वोत्तम ढंग से उपयोग कर सकते हैं। किन्तु दुर्भाग्य की बात है कि इन भौतिक सफलताओं के होते हुए भी हमें वास्तविक शान्त और आनन्द दुर्लभ हैं। इसका मुख्य कारण यह है कि अनियंत्रित भोतिकता की वृद्धि हमें प्रकृति से दूर लिए जा रही है और मनुष्य के जीवन को दिन प्रतिदिन कृत्रिम बना रही है। जिसके परिणाम स्वरूप चिंता, भय, ईर्ष्या और घृणा संसार में बढ़ रही हैं। दुख दारिद्रय की आशकांयें तथा उनकी विभीषिकाएं हर एक मस्तिष्क को आक्रांत किए हुए हैं। युद्ध रक्तपात और विनाश की भयानक सम्भावनायें सर्वत्र विद्यमान हैं। इन सबका कारण, आधुनिक सभ्यता की,

धर्म एवं नीति रहित प्रवृत्ति (Unethical Trend) है। मनुष्य जीवन का प्रत्येक क्षेत्र, चाहे उसका सम्बन्ध व्यक्ति, जाति, अथवा राष्ट्र से हो, वैयक्तिकता से पूर्ण रूपेण आक्रान्त है। विश्व संस्कृति की आधुनिक व्यवस्था में देवत्व का सर्वथा लोप हो गया है। ईश्वर की सत्ता अब व्यर्थ मानी जाने लगी है। और उसका उपयोग केवल संतप्त व्यक्तियों के दुख पूर्ण क्षणों में सान्त्वना प्राप्त करना रह गया है। वर्तमान काल का प्रमुख लक्षण यह है कि धर्म के वेश में नास्तिकता, भौतिकता, आध्यात्मिकता के छद्मवेश में, और अपवित्रता गुण के रूपमें, विद्यमान हैं। इसके फल स्वरूप धर्म जो कि मौलिक रूप में ईश्वर और मनुष्य के बीच शृंखला का कार्य करता था, वह सतका विकृत रूप मात्र रह गया है। मनुष्य की प्रवृत्तियों का झुकाव अधिकतर बुराइयों की ओर ही है। कूटनीतिज्ञता ही मनुष्य की योग्यता तथा गुण, पाखण्ड का प्रदर्शन ही कला, स्वार्थपरता ही देश भक्ति व मिथ्याभिमान और दिखावा, आधुनिक जीवन की अनिवार्यतायें हो गयी हैं। विज्ञान की उपलब्धियों ने मनुष्य के मिथ्याभिमान तथा शोषण की भावनाओं को उकसाया है और विनाशकारी भावनाओं को प्रोत्साहन दिया है।

अधःपतन की इस अवस्था में यह मानना अत्यन्त कठिन है कि संसार उन्नति की दिशा में प्रगति कर रहा है। किन्तु अनास्था और पाप का वातावरण अधिक स्थायी नहीं रहता है, और प्रकृति का लौह-हस्त (Iron Hand) शीघ्र ही सुधार अथवा विनाश के लिए आजाता है। हमारे सद्गुरू ने उसे निम्नाँकित रूपमें प्रस्तुत किया है।

"किन्तु भौतिकता का युग अब अनिवार्य रूप से समाप्त होना चाहिये। प्राचीन व्यवस्थायें, नवीन को स्थान देने के लिये, अवश्य ही बदलनी चाहिए। विश्व की वर्तमान सभ्यता का ढांचा, जो कि विद्युत् और अणु शक्ति पर अवलम्बित है, अधिक समय तक अस्तित्व में नही रहेगा। इसका पतन निश्चित है। सम्पूर्ण वातावरण भौतिकता के विषाक्त प्रभाव से इतना अधिक भरा हुआ है कि इसको शुद्ध करना मनुष्य की शक्ति के पूर्ण रूपेण बाहर है। परिवर्तन के लिए उचित

समय, लगभग आगया है । यह अत्यन्त निकट और अनिवार्य है। इसके लिए दैवी व्यक्तित्व, मनुष्य के रूप में, पहले ही से काम कर रही है । (*From Reality at Dawn Page 135*)

प्रकृति का कार्य, सदैव विशिष्ट योग्यता सम्पन्न दिव्य आत्मा के द्वारा पूरा किया जाता है, जो कि मनुष्य के रूप में पृथ्वी पर अवतरित होती है । सभी धर्मावलम्बियों का यह कथन है कि ऐसी महान आत्मायें समय समय पर संसार में फैले हुए दूषित वातावरण को शुद्ध करने के लिए पृथ्वी पर जन्म लेती रहती हैं । इसी मतका प्रतिपादन भगवान कृष्ण ने अपनी गीता में किया हैं:—

यदा यदाहि धर्मस्य भवति लगर्निभारत
अभ्युत्थानम धर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ।

हे अर्जुन! जब २ धर्म का लोप हो जाता है तथा अधर्म विकसित होकर फलने फूलने लगता है तब मैं (इस विश्व में मनुष्य रूप में) अवतरित होता हूँ ।

क्रिश्चियन धर्मावलम्बी इस बात को मानते कि ईसा, मिलिनियम अर्थात् १००० वर्षों तक सत्य और धर्म की स्थापना के लिए मनुष्य के रूप में दुबारा जन्म लेंगे । मुसलमानों का भी विश्वास है कि हिजरी सन की १४ बीं शताबदी के अन्त में, ऐसी ही दैवी आत्मा का आविर्भाव होगा । इस प्रकार सभी मतों की इस विषय में यही धारणा है कि जब प्रकृति परिवर्तन चाहती है, तो दिव्य आत्मा, मनुष्य के रूप में संसार में प्रकट हो जाती है । अब ऐसा समय आ गया है, और वह दैवी शक्ति मनुष्य के रूप में पृथ्वी पर पहले ही अवतरित हो चुकी है तथा हम लोगों के बीच में विद्यमान है किन्तु इसके विषय में लोगों में कुछ मत भेद है । संसार के अनेक महात्मा इस बात को स्वीकार नहीं करते हैं कि वह शक्ति संसार में अवतरित हो चुकी है । यद्यपि वे इस बात पर विश्वास

करते हैं कि वह शीघ्र ही, पृथ्वी पर अवश्य ही जन्म लेगी और वे अत्यधिक आशा के साथ, उसकी ओर देख रहे हैं । इसका प्रधान कारण यह है कि वे अपनी २ धारणाओं के अनुसार उसके विभिन्न शरीरिक रूपों की कल्पना करते हैं, जिनमें कि उसके प्रगट होने की उन्हें आशा है ।

साधारणतया यह विश्वास किया जाता है, कि वह आंतरिक तथा वाह्य ऐश्वर्य सम्पन्न होकर अपने दिव्य रूप में प्रकट होगा । वह लोकोत्तर शक्तियों से मुक्त होगा और उसके दर्शन मात्र से मनुष्य आत्म समर्पण करेंगे । किन्तु वह हमारी धारणा के अनुरूप नहीं भी हो सकता है । वास्तव में, वह वाह्यरूप में इतना सरल और विनीत भी हो सकता है कि उसकी सरलता ही उसके वास्तविक स्वरूप के लिए नकाब बन जाय । प्रकृति का ऐसा ही नियम है । किन्तु जो सामान्यतया लोगों की भौतिकतावादी दृष्टि के लिए स्वीकार्य नहीं भी हो सकता है । लेकिन वह समय नजदीक है जबकि वे, निकट भविष्य में आनेवाली घटनाओं के प्रभाव से, इस सत्य को स्वीकार करलेंगे । उसके समक्ष इस बात का कोई महत्व नहीं कि लोग उसे इस रूप में जानते हैं अथवा नही : वह संसार में केवल प्रकृति के कार्य के लिए आता है । विश्व में परिवर्तन लाना अथवा पूर्ण सुधार करना ही उसका मुख्य कार्य है और वह अपने कार्य में संलग्न है । संसार में जो भी कुछ भी अपवित्र तथा सदोष है उसको पूर्णतः नष्ट कर देना ही उसकी योजना है । यह कार्य विभिन्न साधनों से पूरा किया जाता है जैसे कि बाढ़, तूफान, दुर्भिक्ष, रोग, युद्ध, कतल, हत्यायें दैवी विपत्तियाँ जैसे कि ज्वालामुखी का विस्फोट या पृथ्वी का आकस्मिक रूपसे जलमग्न हो जाना ।

अतः अब यह हमारा कर्त्तव्य है कि हम उसकी उपस्थिति को जानें, और अनुभव करें, एवं जहाँ तथा जिस रूपमें भी वह हो उसे खोज निकालें । यह कार्य उनके लिए कठिन है जो अपने संकीर्ण तथा संकुचित विचारों में ही दृढ़ता से जकड़े हुए हैं, किन्तु सच्चे सत्यान्वेषी

के लिए यह तनिक भी कठिन नही है यदि लगन तथा सचाई के साथ वह उसकी खोज करता है। उसकी उपस्थिति का सरलता से अनुभव किया जासकता है यदि कोई व्यक्ति कुछ समय के लिए शुद्ध तथा सच्चे भाव से यह सोचता हुआ उसका ध्यान करता है कि मनुष्य के रूपमें जो महान आत्मा ससार में विद्यमान है उससे वह ईश्वरीय शक्ति प्राप्तकर रहा है। यदि वह यह अनुभव करता है कि इस साधना द्वारा उसकी अध्यात्मिक उन्नति हो रही है तो यह उसकी (महानआत्मा की) उपस्थिति का पुष्ट प्रमाण है। यदि वह उसके यथार्थ शारीरिक रूप को देखनेका उत्कट अभिलाषी है तो वह अपने पुराने भावों और विचारों को अलग रखकर उसका ध्यान कर सकता है। इसी प्रकार से वह कहाँ है" इस बात को भी जाना जा सकता है। प्राचीन काल में बड़े बड़े महात्माओं ने इसी प्रकार समय समय पर इस उद्देश्य के लिए यही साधन अपनाये थे। समथ महात्माओं के लिए प्रकृति के लक्षणों को देखकर इस तथ्य को जान लेना बहुत सरल है अथवा वे आंतरिक दृष्टि द्वारा उनके साथ सम्बन्ध स्थापित करके इस सत्य को जान लेते हैं।

कोई भी इस पर विश्वास करे या न करे परन्तु फिर भी प्रत्येक मनुष्य को कम से कम अपने उपलब्ध साधनों द्वारा इस तथ्य का पता लगाने के लिए प्रयत्न अवश्य करना चाहिए। जिससे कि वह कम ही प्राप्त होने वाले ऐसे सुअवसर को न खो सके जो कि आज बड़े भाग्य से हम लोगों को प्राप्त हो गया है। नियत परिवर्तन के लिए अब वह समय आ गया है और महान आत्मा इस कार्य में संलग्न है। इस बात के लक्षण स्पष्ट हैं और किसी भी ऐसे व्यक्ति के द्वारा जो उनको जानने का इच्छुक है वे जाने जासकते हैं। इस लिए हमें प्रकृति की इच्छा के अनुकूल कार्य करने के लिए समय रहते ही जग जाना चाहिए जिससे हम सत्य और धर्म के सिद्धांतों पर आधारित भावी विश्व की नवीन व्यवस्था अपना सुरक्षित स्थान प्राप्त कर सकें।

॥ समाप्त ॥

STATE OF REALISATION

(By Shri Ram Chandra, President
SHRI RAM CHANDRA MISSION,
Shahjahanpur, U. P., India).

There are so many systems proclaimed as the best and the most efficacious and all of them no doubt claim realisation as their goal. But here we must pause a while to weigh them all with the heart's eye. I use the word 'heart' because it is the nucleus and creates the vibrant motion whereto it is directed. This is the field for the mind to work and this is the instrument by which we develop the discriminative faculty. The subtle force works in this place for the descent of Divine energy. If somehow our thinking conjoins with it or we train it so that it may percolate the right thing and direct it towards Reality, the problem is solved. But that is impossible unless one tries to have a clear view of what realisation is. Every religious minded man and scientific explorer is of opinion that it is the subtlest force that is working. You can easily know it if you are away from grossness which you have gathered round by your misguided thoughts. Now you can easily deduce that if it helps our movements towards subtlenss, the method is correct. But if it tends to enlarge yourself with grossness, it is not only wrong but it

also pulls you down to the level where realisation becomes far distant.

Miracles, of course, do awaken. They may be clssified under two heads, one of divine nature and the other of material. The purpose of the former is always godly, whereas that of the latter is worldly. The former type of miracles are awakened to him who proceeds by subtleness and they solve the problem of life that confronts us all. On the other hand those proceeding along with grossness, develop miracles of the latter type which overburden the heart. If, howere, one gets absorbed in the condition of the lower attainment he as a whole becomes a knot (so to say) with a whirlpool in side for himself to be drowned. If that power is utilised on others they will also be dragged into the same whirlpool. I must point out in clear terms that miracles of subtle nature are developed by those who are entrusted with divine work. In our Sanstha one may hardly find an ABHYASI, having unflinching faith in the Master, free from subtle miracles. But the Master's hand keep him under control not allowing him to peep right or left lest he should go astray. He is not even conscious of them but they come to his knowledge when the nature of divine work assigned to him demands it. Awakening of the Hylem shadow promotes miracles but only of divine nature. I do not enter into further details on the point. Suffice it to say that if one can put a man on the right path that is one of the best miracles.

The technique of the Sahaj Marga, though quite simple and natural, is beyond common grasp since it adheres closely to the absolute Reality and proceeds on subtlest lines. It Prescribes meditation on heart, thinking of the Divine light, but the ABHYASI is directed not to view the light in any form or shape like the electric or moon light. In that case the light appearing therein will not be the real but one as projected by him. An Abhyasi is advised to proceed with a mere supposition of it with the thought of Divine at the bottom. What happens then is that it be-Comes subtlest with the result that we thus meditate upon the subtlest which is to be attained. Every saint has used the word 'Light' and I too can not avoid it because that is the best expression for the Reality. But that creates some complication because when we talk of 'light', the ideo of luminosity becomes prominent and we begin to take it as glittering. The real Light carries with it no such idea. It refers only to the real substance or more appropriately substanceless substance. Under our system an ABHYASI, no doubt, sometimes sees the Light. But the glittering light appears only in the begining when matter comes in contact with energy. In other words it is only a clue to show that energy has begun to work. The real light as I have discussed in the 'Efficacy of Rajyoga', has the dawn colour or a faint reflection of colourlessness.

Under the system much emphasis is laid on removing of the grossness so that overcloudiness

which hovers round the soul be removed. That is for all preceptors of the Mission an important part of their duty. Still much is to be done in this respect by the Abhyasi himself who is prescribed methods for the purpose. I do not mean to touch the point why we meditate upon the heart since it has already been discussed elsewhere.

Most of the scholarly saints have tried to define the state of realisation in numerous odd ways, but to me it appears that so far as it can be defined it is not realisation. It is really a dumb state which is beyond expression. Feeling or observing of luminosity within or without is not realisation at all. During the early peried of my Abhyas I often witnessed and felt luminosity. But that not being the goal I proceeded on, under the watchful support of my Master, from 'Light to Grey' as Dr. K. C. Vardachari rightly puts it for our system. It is not in fact Light (in the sense of luminosity) that we are finally proceeding to, but to where there is neither darkness nor light as the emblem of our Mission indicates, What that can possibly be is beyond words.

Consciously or unconsciously the inner craving of a human heart is the attainment of the Real. This is the ladder for one to ascend towards the unknown. When this craving is satisfied we also become unknown to ourselves. We thus enter a state of oblivion where self is totally forgotten and the

consciousness of the body or the soul is all gone The impressions of existence which encumber the heart are all washed away. He can not imagine what he is or what others are. The tie of relationship is broken and he does not feel himself connected with anybody. In short he loses his very entity. He does things which leave no impression upon him. The formation of samskaram stops and he is free from their effect. He thus acquires the state of Nishkam-Karma, so beautifully discussed by Lord Krishna in the Gita. At this stage the man attains an almost balanced state similar to that as it was the creation came into existence. His heart is quite calm and mind disciplined. He is so much absorbed in Brahma that he does not like to part with it even for a moment, so he can no longer meditate either on God or on himself. If however he attempts for a while to meditate, breathlessness will follow since he is swimming in the sphere where there is no density. At this stage they say that self is realised but that is a wrong impression because there one knows what he is, and this is what they lay so much stress upon. What happens at the stage is that the cells of the body begin to get transformed into energy and then finally into its ultimate. There is no charm, no attraction and no Anandam in the popular sense of the word. It is a tasteless state, unchanging and constant. It can more appropriately be described as sang-i-benamak (or a lump of salt-stone from which saltishness is taken away). One

पेज ३३, से ३६ तक नं० ३ गलती से छप गया है नं० ४ समझा जावे।

having attained the state of realisation develops an unfailing will in spiritual sphere. He though in a state of forgetfulness is the knower (in limited sense, of course) of all sciences of the world. God is the knower of all things and one who is absorbed in Him must also be the knower (with regard to human limitations). But though limitations are broken by the Master still the sense of humanity is not lost and the instinct remains throughout because if the instinct is absorbed the man will leave the body atonce. So in that state he looks both upwards and downwards as the situation demands. It is, therefore, necessary to have an unlimited view inorder to attain the Unlimited and the method for its attainment must also be the right one.

Under the Sahaj Marga system, the dormant energy of the centres and sub-centres is awakened so as to enable them to function properly. Where the higher centres are awakened they begin to shed their effect upon the lower centres and when they come in contact with the Divine, the lower ones get merged into them.

Thus the higher centres take over charge of the lower ones. The lower centres too are cleaned so as to relieve them of the grosser effect which keeps them enwrapped. That alone is the natural course and I think no other method except that followed in Sahaj Marga, can over bring out such results. Every Preceptor of the Mission having

firm faith in the Master can bring out such results in an instant, if the Abhyasi has developed capacity for it, otherwise that would mean end of his life.

At the stage there are numerous different states which are acquired one after the other during the course. But the condition that exists there, is such that if an Abhyasi attempts to cross over to the next by self effort, he is unable to stand the strong flow of the Divine energy and instantly slips down. It is only the power of the Master of calibre which can keep him up to overcome. At higher most stages the flow gets stronger because godly energy becomes still subtler and the subtler force is naturally more powerful.

Generally learned men, though I respect them much, express their opinion about realisation or its condition, on the basis of their learning and not upon their experimental knowledge, which is the real one. For the reason I regret to say that realisation has now become a present day art. The reality has in fact sunk down deep leaving its outer cover for the artist to paint with colours according to their mental taste and skill. The result is that people begin to focus their attention on those very paintings and get into them to the extent which is neither spiritual nor real. I believe one must not have any right to touch the subject of realisation unless he has attained it in true sense whereby the Divine wisdom has awakened in him.

(Extract from Master's letter).

Astral Body

by Dr. K. C. Varadachari
M. A. Ph. D.

In the general treatment of the astral body there seems to be some kind of doubt as to its nature and existence Does every man possess an astral body ? If so is it located in space and time or within the body or outside the body, or is it an inseparable part of the body, In what sense is it a body ?

These questions and many more crop up when we try to deal with the subject.

Every person possesses the astral body which gives a reading of the psychic condition of the individual soul. It is a near body as contrasted with the physical gross body. When the gross body dies the astral body is said to be the transmigrating one alone with the soul. But it does also go away when the individual soul gets rid of the karmas and vasanas and trisnas absolutely. Indeed it is a karana sarira in the sense that once this forms then the rest of the formations follow. Since it dissolves (siryate) or falls to pieces ultimately it is a sarira or body. Thus it is called karana sarira.

But it is in a sense located within the body being very suksma and also an atomic conglomerate or aggregation or skandha. Some hold that it is a

conglomerate of manas, suksma indriyas, ahamkara and budhi. The atomic nature of each of the components would however entail quite a sizable sarira. Does it by any means mean that is of the size of the thumb (angustamatra purusah) for it is described so even in the Savitri episode when the soul of satyavan was taken out of the body by Yama with his pasa, binding rope ?

Some make manas a vibhu or vast whereas some make it anu (minute). Some make the soul vibhu but somehow claim that it can be bond by the manas etc entities. Undoubtedly Buddha denied the soul behind the conglomerate though he did not affirm as to what was left after the break up of the skandha or aggregate.

Whatever may be the condition, the astral body is within the physical and is limited by it in such a way that there is no freedom for it except when it is released by the physical during dream or when it is in some sense taken out of the physical body in trance states or yogic or occult states. In dreams thus the subtle senses, manas ahamkara act as if without any limitations of space or time. In fact though the images are all taken from the physical world yet the activities specially break all laws of the physical. It is from the analogy of the dream state that the seers tried to liberate the astral body and deal with it directly in Yoga. This of course is not so much as known by the vedantins or even the modern yogins.

Sri Ramchandra Ji Maharaj has shown how from the very first, one must deal with the astral or karana sarira of the abhyasi and liberate it from the thraldom to its physical gross body. The effect cannot cure the cause but the cause can cure the effect.

Another conception of the astral body may be given from the Indian philosophic stand point. The antahkarana or internal organ of knowledge is said to comprise of the buddhi (intellect), ahamkara (will or egoity) and manas (the principle of distinguishing feelings of pleasure and pain), and the citta (the whole series of modifications which go by the name of ideation, imagination). These also include the functions of memory. But obviously our consciousness as at present constituted is the awareness that we have of the world outside us and our memories of it which we get through our senseorgans and motor organs. Indeed the antahkarana depends for its knowledge of the outer world on these sense organs and motor organs. However the upanishads call this awareness of the outer world jagrat, waking consciousness and the states of mind when the motor organs do not function the dream consciousness. Obviously even the sense organs do not function. Only the antahkarana begins function with the memory materials already got from the senses. That is the reason for our experiencing the dreams in a sensory manner The complete absenee of sensory experiences is the susupti or deep sleep.

The reason for our forgetting experineces may most probably be due to the sinking of all experiences in to this deep sleep state. This may be caused by our fears and complexes which inhibit our memory. This need not detain us of course for we are very much concerned with the astral form which might well be called the central body with the nucleus of our experiences.

That we can have clearer idea of the internal condition and status of a man through the astral than the physical is the considered opinion of the investigators into spiritual life. In this sense the growth or distortion of the individual are perceived through the internal organ and not through the external senses.

It is possible to observe the astral form or project the astral form out of the physical body too. It is not possible to do the same with regard to the physical. Spatial and temporal limitations are much fewer than the physical in respect of the astral. It is because it can be the transmigrator from one body to another at death and does keep its individuality that it is possible also to deal with it in its dream and deep sleep states through the astral.

The reason for much of the spiritual work to be done during the deep sleep of the abhyasi or the samadhi condition or the deep dhyan shows that what real transformation can be done is only during the period of the astral life. The upanishad calls the state as the condition when one is at one with the Divine

Continued on Page 63

A Religion of Silence

(Shri S. C. Srivastava M. A.)

'A religion of silence'—sounds a contradiction in terms. Born in silence, bred in the mystic tranquilliy of dawn and twilight, the religions of today have started following the ways of commercial advertisement. On the part of religious leaders; religion has come to mean incessant preaching, full of sound and fury, signifying nothing. On the part of so called followers of religion, it is only either a sudden effusion of momentary emotion or a passive listening to the monotonous downpour of words which are mostly not lived by the speakers themselves. In this whirlpool created by cross currents of conflicting religions, the bark of human soul is bound to go down, and down it is sinking. There is nothing to check it from sinking into the deep bottom and remaining stuck into mud for ever. There is nothing to keep it buoying and sailing triumphantly through every storm to the ocean of Eternity and Infinity.

We have become very talkative. There are high level talks and talks at the bottom level. There are talks in private and talks in public. Lips and tongues are more in practice than hands. This garrulity is a mark of old age. In its present zest for talk modern man is spending his youthful energy at a fearful rate. As a consequence of it weakness is creeping in. We have to use amplifiers to make our voice louder

and everywhere there is a search for sound-proof residence. But the more civilised is the town, the more noisy it becomes. Ours has become a noisy civilisation and we become prematurely old and feeble.

Noise has its own place in life. Out of the monotonous routine of life when anything happens extraordinary, our feelings cross the narrow limits of daily behaviour and we shout out of joy. There are occasions when the normal routine is disturbed by a quarrel or a discussion. But they have their time and leave no trace behind. All the storm and stress is followed by a lull which fills up the energies spent during that period. A continuous talk or noise on the other hand strains our nerves so much so that man starts losing control over himself, suffets loss of memory and the pink of the cheek fades out, Head droops low and worries are writ large on the face. Weak nerves fail to absorb the quick and insolent vibrations and therefore during sleep also those vibrations persist. Sleep, 'Natures second course' loses its nourishing quality. Insomnia, somnambulism and the craze for tranquillizers is due to the strain on our nervous system, which does not get slightest rest in the crowded big cities. Men with money may escape from these unhappy surroundings for sometime as an outing or picnic but what about the middle or the lower classes ? Psychologists are coming round the point that one of the reasons for juvenils delinquency in towns is the lack of healthy surroundings. They get no rest, no peace and inorder to titilate their thickened and dull

nerves they resort to several extraordinary actions. Recently there is a movement in western countries to ban the exorbitant sale of six penny crime thrillers because the young boys are trying to practise them. The wide sale of those crime thrillers is ample testimony to the fact that the nerves of the westerners are very strained and hence these novels and also the sale of tranquillizers. This is the result of noise.

Silence has always been given a higher place than speech. Sleep is so necessary because it smoothens the ruffled wings of our personality. Silence acts as a preserver of energies and their prompter as well. On one side it keeps a balance of activity in our physical body and on the other side it awakens mind to greater observation, watchfulness and depth. Imagination befriends silence. Through imagination one can develop one's personality and it is one of the greatest misfortune of world that mankind is becoming less and less imaginative everyday. Imagination is a faculty of strong and sensitive nervous system. It can hardly be possible in a strathed and dull person. Lack of consideration, sympathy, good manners and the absence of the feelings of brotherhood, love and kindness all are due to dying imagination. Silence makes a man strong within himself and purges out the poison bred by constant din of modern cities.

Silence as such has its two sources. First is nature aud second the heart of man. Wordsworth comes very close to Vedic Rishis of India when he revived the imagination in men through the contact

of nature. And this Nature is silent, living and powerful. He has sung of a girl, Lucy who would be in very close contact of Nature, which would mould the maiden's from by silent sympathy :

"Hers shall be the breathing balm,
Hers the silence and the calm
of mute insensate things."

Nature, presented by Wordsworth is a land of Eternal silence in which the sounds produced by the waves of sea, shouts of children, roar of waterfalls mingle into a harmony. Thus he rejuvenated English race for sometime and cured the people of their growing pessimism by his strong stress on the power of imagination.

But wordsworth could not preserve this source of great joy and strength. As his friend Coleridge aptly pointed out the source of all emotions is the human heart and it is through the condition of human heart that we can perceive joy or sorrow in nature When the poet became too much with the world, he separated himself from Nature and his poetry ended with it. The Vedic Rishis knew it and therefore though they never failed to mark the serene beauty of dawn or highly mysterious darkness of a starry midnight, they always prayed for peace or traquillity so much so that the prayer for peace became obligatory almost after every prayer or Mantra — Om Shantih, Shantih, Shantih !

The source of this Shantih—this Divine peace and tranquillity is human heart and the Vedic Seers

strengthened this conception of peace and tranquillity through the system of meditation. Peace and silence can come only to a pure heart. It will be an idle pursuit if one tries for it with his heart full of greed, jealousy, hatred and other evils. For abiding peace, therefore heart is to be made clean and pure. And it is here that most of the religions are born.

Silence breathed before this world was created. The first stir in this ocean of Silence was the beginning of sound as well as that of creation. The first sound was 'Om' and since then every sound is one or the other from of the original sound. Now as we proceed in our onwards march towards the original state, the conditions of soundlessness go on varying and a peculiar silence goes on spreading within us. Our personality becomes wide and deep. The conflicting notes of day to day life fade into a distant murmur and with the spiritual advancement we reach a condition which is the condition of perfect Silence—a silence that pervades extensive fields at early dawn. It is perhaps this experience which Kabirdas tried to express that he slept with out—streched limbs in a limitless field—

बेहद्दी मैदान में सोया टांग पसार

The real mystic experience lies in living that silence. One can bathe into that silence, says the weaver saint, only when one steps out of finite into Infinite—

'हद छाँड़ि बेहद गया किया सुन्न अस्नान'

This is true religion, true faith. What is the sense in making great hue and cry to propagate one's religion. Is your God deaf, he asks the maulvi.

Sahaj Marga takes the line of the Vedic seers. Its medium of spiritual progress is meditation upon the heart. Through meditation and moreover the spiritual power transmitted by the Master, the heart becomes more and more pure and a peculiar silence goes on increasing. Those who have tread the path of meditation know the nature of this silence. To get a simple idea of the peace we may think of those places where the breeze blows with out any obstruction. The calm of the atmosphere, the feeling of the depth of space and freshness and serenity of the pure light—all these experiences grow finer and finer with the spiritual advancement. If there is any difficulty or obstacle, the power transmitted by the master washes it away. What would be the profound silence enjoyed by them who have crossed the rings as described in the 'Reality at Dawn' or the Knots described in 'Anant ki Ore' or the Mandals described in the 'Efficacy of Rajyoga.'

Silence has a force a weight and an attraction. Each and every word spoken by a man who knows the secret of silence is full of energy and balance so much so that they strike the very depth of the hearers. Silence, which grows by itself preserves energy and makes a man deep and thorough. This is the secret of power of the people of yore who practised meditation.

In modern life, with crowded cities and narrow means Sahaj Marga has its own purpose to fulfil. To common man it reveals the source of ever-lasting peace and tranquillity. The beauties of nature like the mountains, rivers and green fields and flowers are becoming an impossibility these days to man of average means. Hence to talk of joy that Wordsworth felt in the company of nature is now dream to all of us. Sahaj Marga on the other hand has opened the other source of peace and silence i. e. the depth of human heart. Outward nature can appeal to man with special capabilities to appreciate its beauties but the method of meditation followed in Sahaj Marga requires no special capacity on the part of the follower. On one hand the heaviness engendered by constant noise of modern life is wiped off and on the other hand the nerves are strengthened to bear the stress and strain of life. Thus with the increaee in purity of our inner being we enjoy greater joy and strength. It is therefore needless to say that with wider acceptance of the system of Sahaj Marga much evils of modern life can be cured.

But we must be careful to remember that a search for peace in worldly sense of the term is not the goal of Sahaj Marga. Silence is the first word in our spiritual pursuit and silence will be the last. The silence of the start is that of breaking down with a few stars. The silenee of the end will be of that place where neither shines the moon nor the sun; when the lightening will be lost, what to talk of fire. In that profound silence all

Continued on Page 63

The Special Personality and his work

(By Sri Raghavendra Rao)

"Nature now requires change-a thorough over-hauling, and for this purpose, I may assure you, a special personality has already come into existence and has been at work(since about the end of the year 1944)"says the Master in " EFFICACY OE RAJ YOGA IN THE LIGHT OF SAHAJ MARG ". In the same book it is written, " The personality referred to in the book, as working for the CHANGE is in existence somewhere in Northern India and may be discovered by him who sincerely meditates for it, or be revealed to one who actually intercommunes with him through clairvoyance".

This naturally has caused curiosity in the minds of readers and some have been impelled to actually go in search of him. For a true seeker there are three problems to be discovered by himself. Nature requires CHANGE-what it is ? Who is working for it ? What is his MODUS OPERANDI ? If one goes on brooding over the above questions he may not readily get enlightened unless he has prepared himself to receive it. Hence it becomes imperative for the purpose to prepare oneself for the great task ahead. How to do it ?

The reading of Nature appears very difficult. Even though Nature does not keep any thing secret, yet the human mind feels ilself incapable of grasping it. It is obvious that the incapacity to read it lies in the defect of the mind. Whenever the human mind tries to grasp

anything, its activities get re-arranged in such a way as to create a momentary centre or a point of approach. Due to the bad training of mind its activities are so chaotic and haphazard that every moment there will be a false centre before its view. And this centre too goes on changing and takes various forms at various moments. Hence it comes to the logical conclusion that all knowledge is false knowledge and whole world is an illusion. If man's search, instead of getting frustrated at this point, continues still further the activities of his mind will begin to form a relatively stable centre and the knowledge gained in such a state will be relatively more vivid and unambiguous.

Similar is the case with the forces working in Nature. The untrained observer will see a huge chaos and an immense confusion. But a trained scientist will discover various laws governing the activities of Nature, sees perfect order underlying this apparently immense disorder and finally comes to the conclus. ion that the law of cause producing effects and the effect in turn producing causes for further actions is the only universal law, and that there is a vicius circle of the relativity of cause and effect; and that the conception of One Absolute or The Root Cause is just a figment of human imagination. The philosopher goes still further and with his unfailing logic and speculation establishes the truth of his own conviction and faith in a preconceived pattern of the universe. In this way the scientists and the philosophers read Nature and represent it in as much comlicated

and confusing a manner-nay, even more chaotic than what the lay-man thinks it to be. If the scientist or the philosopher takes a leap further he will discover the Reality of Nature which in fact is simple and obvious and then his knowledge will be direct and unblemished because of his direct reading of Nature.

Even the combined picture of the apparantly chaotic universe governed by the immutable laws as discovered by the scientists and the willful and the purposefull activities of Nature as described by the philosophers, though satisfying to a normal intellect to a certain extent may yet be insufficient and unappealing to a searching mind. There are some Yogis who claim that they can read nature in its integral aspect. Their knowledge, it is claimed, comes through a supermind grown for this purpose or through the awakened Kundalini. Even their versions regarding the universe are very much mystifying so as to appear to be fantastic, and even nonsensical at times.

In desperation, the earnest seeker will have to run to one who knows. How to find him ? To pray sincerly having great anguish in the heart is the answer given by almost all the lovers and helpers of humanity. Nevertheless the mind wants an assurance that the person taken for help is really the right one. The heart provides the answer. Where there is not the slightest trace of

selfishness and exploitation there the thing rests. The heart immediately finds itself as having been purged of all the grossness and solidity and feels real peace which is its own characteristic, in the presence of such a personality. A secret sense of having come to its own home prevails in the heart. All bondages are felt to be getting loosened. A sense of utter freedom and complete want-less-ness and simplicity and plainness develops as a result of the association for some time with such Personality. Even the ideas of God and Universe vanish away from the heart. Instead of trying to read nature man actually sees the "Open Book of Nature" placed before himself, with the help of such a worthy Person. One no more feels the necessity and the inevitability of the material instruments and material signs to grasp the spritit because he begins to live and move in the very spirit when the Master takes him to that stage.

Now about the ways in which the Special Personality mentioned above is working. Although this may not be of much use for us in our present level of being yet our curiosity remains to be satisfied. The best way seems to be to find it out from Him alone. It is extremely difficult to describe His work as He does not work in the sense in which we normally understand the word "work". To put it humourously: He is always busy doing nothing. In all the sacred scriptures of the world one comes across

the assurances given by God that whenever the world needs a Special Personality is born to set it tight. A beautiful example of His work may be found in Lord Krishna. He cannot be proved in any court of law to be the direct cause of or the active participant in the battle of Mahabharat. Nevertheless everyone knows that it was Shri Krishenje Maharaj alone who brought it about. In our contemporary times we have witnessed many changes due to the destructive and creative activities of Nature. One having the internal vision cannot fail to see the will working behind these changes in almost all the fields of its activities. Such will can obviously be used by a Personality only having the human form. And such a Personality must be specially gifted with the necessary powers required to bring about such changes.

But what we require now is the benefit of such immense power for our own spiritual upliftment. And in Sahaja Marg this Special Power is used for the Spiritual training of the Abhyasis, through transmission. It requires such less power and energy to shoot a gigantic rocket far into the space than to bring the wayward tendencies of the human mind to perfect balance. The power of such a Special Personality can restore the balance within a moment. His will is unfailing. In fact He is so "dead and gone" that He feels helpless but to will whatever Nature wants. Having entirely dissolved himself He is left with nothing else to do. He would have passed away unnoticeed

but for our agonised cries for help. Now it is left for us to discover Him who is hidden in a human form and help Him to help us to reach our destination.

Mind and Meditation

(Shri Ishwar Sahai)

The mind is the root-force in man It owes its origin to the First Stir (Kshob) which set up the process of Creation into action. In its primordeal state it existed in an extremely subtle form. Form this super-finest state it went on growing grosser and grosser till it came down to the level of the conscious mind. The thinkers have divided the human mind into two classes, the conscious and the sub-conscious. At the level of the conscious mind (also known as the physical mind), its action, which are within our direct perception and experience, can be controlled physically or by the force of will. But the actions of the sub-conscious mind remain subdued and are beyond our conscious control. But these two broader divisions do not explain all the different levels of the human mind, which may in fact be innumerable. Thus the sub-conscious mind covers all the different levels of consciouness which lie beyond the limits of the conscious mind. At all successive levels the state of consciousness goes on growing finer and finer till it attains its original state as it had at the time of the Creation. The Hindu philosophy takes into account all these

successive states of consciousness for its ultimate spiritual purpose. The conscious mind is usually known as the Sthul (gross) mind. Next higher to it is the Suksham (astral) mind. which governs all the activities of the lower or the grosser mind. At this level there may again be numerous different states each varying from the other in respect of density or grossness. Higher above we come to the level of karan or the causal mind which governs the action of the astral mind. Thus it may be evident that everything that passes into the conscious mind proceeds actually from some higher centre of subtler consciousness where impressions of our thoughts and actions in the lower plane, have been implanted.

Control of Mind

The mind thus being the centre of all human activities, controls everything in man. It governs all actions, thoughts, passion and emotions. It is unceasingly active. If it is let loose, as is generally the case, to work in its own way, it usually associates with body-consciousness and begins to work for the gratification of our physical desires and cravings. Thus most of its activities are diverted towards material purposes and it gets entangled in them. This unrestrained trend of the human mind, directed only toward one side is in fact responsible for most of the evils which finally lead to our general degradation. It is for this reason that mind is often condemned as the worst enemy of man, for which drastic measures of suppression and annihilation are usually recommanded. But it is quite evident that such measures, though they

might at times serve temporarily as a check upon the mind, can not relieve it of its evil tendencies, which remain buried within for ever. The control is required only when evil persists. Thus when we mean to resort to control of mind, the underlying thought of retention of the evil is also implied in it. That means that the poison is allowed to persist and efforts are made only to check its outward action. In case the control is at any time relaxed, the evil will again shoot up and begin to display its action. For this ression it is clear that control of mind is in it self a worng word used for the purpose. It should rather be the purification of mind which implies elimination of all undesireable element from the mind. This is really the proper course which is suited best to our ultimate purpose.

Purification of mind All evils, no dubt, breed from the mind, but it is so only when it has gone off the rails. The proper course would therefore be to correct it by directing its tendencies towords the right channel. It can best be done by throwing out the poison of evil which lies buried within. That comes to proper cleaning and purification of mind by which it may be relieved of its evil tendencies. Purification includes not only the purging out of all evil tendencies but also of all complexties and grossness of being. caused by the over-ruling in fluence of gross materialism. Inner purification is therefore one of the most important items of the pursuit. Unless such complexities are removed or at least

cosiderably reduced one is hardly able to proceed along the path of spirituality. But unfortunately this most essential feature of the spiritual life is sadly neglected under most of current systems. As a result, inspite of their life-long labour with mechenical routine of warship they remain submerged in solid grossness from top to bottom, barring for ever their approach to Reality. The spiritual elevation is thus only a dream unless it is suplemented by thorough cleaning and proper regulation of mind. But this is no dought a tedious job which requires whole-hearted attention and persistent labour on the part of the Abhyasi. The help and support of a worthy guide is also very essential in this respect.

Regulation of mind In fact regulation of mind is the main objective for which cleaning and purification is undertaken. It implies a sense which is slightly more than what purification conveys. Regulation of mind refers not only to the purging out of evil or grosser elements from the mind but also to proper adjustment of and due moderasion in all things related with it. That means a thoroughly balanced state without rise, fall or excitment. But this does not mean total elimination of all feelings, passions or emotions. Passion, emotion etc. may at times be quite necessary from our daily affairs of life which must definitely be displayed accordlng to need but never beyond the required limit in an uncontrolled way and at the same time the mind must ever remai n free from its weighty effect.

Culture.

(By Sri Raghunandan Prasad Indra Advocote)

1-Culture is opposed to Nature just as Sankriti is opposed to prakriti. It represents the contribution made by a human group to the progress of history. Nature is what is given to man. Culture is what he builds upon the foundations of this Nature. This nature is some times friendly and some times hostile to man. Man by his efforts always seeks to tame it, and make it friendly. By his efforts he effectuates an all round change in his living conditions, in his values and ideals of life. These values and ideals he endeavours to translate in life and its actualities.

2-The life of the individual possesses two aspects viz personal and social.In many of his activities these two aspects are mixed up, but in many others it is possible to draw a line of demarcation between them.

3-The personal aspect of his life consists of the life of his body, mind and spirit. The body wants health and self preservation. The mind consists of sensuous, emotional and intellectual elements. The spirit wants to realize and create.

4-The social aspect of life includes all aspects of individual life. It further seeks to strengthen the bonds between man and man, so that there is solidarity in social life. In order to promote the social strength of these bonds, society develops institutions; laws and customs. Family, community, State, school, nation, club associations are some of the important institutions.